

AL H 891.431

CAV



123555

LBSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

— 123555

अवधि मसूदा

Accession No.

15404

वर्ग मसूदा

Class No. 644

891.431

पुस्तक मसूदा

Book No. KAL

कविता

कविता-कुसुम-माला

खंडी बोली और ब्रजभाषा की स्फुट कविताओं का संग्रह
जिसे

“दो मित्र”, “प्रवासी”, “नीति-कविता”, “बालिका-विनोद”,
“बाल-विनोद”, “कविता-कुसुम” (उड़िया भाषा में),
“पद्म-पुष्पाञ्जलि,” “मेवाड़-गाथा,”
“ माधव-मञ्जरी ” आदि के
रचयिता बालपुर-निवासी

पाण्डेय लोचनप्रसाद

ने

मासिक पुस्तकों की सहायता से
सम्पादित किया

प्रकाशक --

मिश्र-बन्धु-कार्यालय,

जबलपुर

चतुर्थ
संस्करण {

जुलाई, १९३२ ई०

} मूल्य,
१।

FROM ENGLAND

The World-renowned scholar and orientalist
SIR G. A. GRIERSON,

O.M., K.C.L.E., C.L.E., PH.D., LL.D., I.C.S., (Retd),

*Superintendent of the
Linguistic Survey of India*

was kind enough to write :—

The *Kavita-Kusum-mala* (कविता-कुसुम-माला) seems to be an excellent collection of modern Hindi verse. I must confess that my रुचि is in favour of Awadhi or Braj Bhasha being used for poetry, and not *Khari Boli*. But I know that the tastes of other people differ from mine. * * *

(Sd.) G. A. GRIERSON.

Date 15—10—17.

विषयानुक्रमणिका

—→ (1) (2) (3) ←—

	पृष्ठ
१ समर्पण	५
२ अँगरेजी भूमिका	७
३ वक्तव्य	११
४ पाठकों से एक निवेदन	१३
५ कला एवं रहस्य-वाद	१५
६ कविताओं का सूचीपत्र	
कविता (स्तुति, प्रार्थना आदि विषयक) ...	२३
,, (प्राकृतिक शोभा एवं दृश्य-वर्णन-विषयक)...	२४
,, (शिक्षा और उपदेश-विषयक) ...	२६

—————

समर्पण



“छन्दःप्रभाकर” तथा “काव्य-प्रभाकर” की दिव्य प्रभा
से हिन्दी-साहित्य-संसार को आलोकित करनेवाले
पिङ्गलाचार्य विद्वद्वर्य सहृदय-शिरोमणि
श्रीमान् राय वहादुर बाबू जगन्नाथ-
प्रसाद “भानुकवि” महोदय के
कर-कमलों में सादर
समर्पित ।



P R E F A C E.

WHEN laudable attempts are being made, at the present day to make Hindi the *Lingua Franca* of India, it is incumbent on every well-wisher of Hindi to enrich and adorn its literature to the best of his power.

Poetry, which may be called the very life and beauty of literature and which plays an important part in improving the moral side of man, does not serve a less useful purpose than science which contributes to the material comforts of mankind. Hence the study of didactic poetry deserves as much patronage from the public as does any other branch of literature.

Hindi literature already abounds in poetical works of very high order, but there is hardly any collection of such works as will suit the taste of our young readers whose minds have been influenced by western ideas and sentiments.

In editing the present volume, therefore, my aim has been to provide my young readers with an exhaustive collection of Hindi poems of the old as well as modern style.

The volume is divided into three parts, each containing poems both in "*Khari Boli* and *Brāj Bhasha*." The claim of *Khari Boli* to be the language of Hindi poetry is well nigh established and the measures adopted for its popularisation are appreciated even by those who are against its use for the purpose. But on the other hand I will not suffer my readers to look despisigly upon *Brāj Bhasha*. There is no doubt that most of our young readers find it a little difficult to understand *Brāj Bhasha*, but this should not be set up as a plea for neglecting the language in which renowned poets like Chanda, Sur Das, Keshava Das, Tulsi Das, Bihari Lal, etc., wrote their unrivalled works. Its study is obligatory on every lover of the Hindi language. For this reason a proper proportion of *Brāj Bhasha* poems has found place in this volume, and it is hoped that they will be relished by our juvenile readers.

I gratefully tender my thanks to all the poets whose poems are presented in these pages, and trust that for the sake of mother Nagri they will magnanimously overlook my boldness in compiling their poems in this volume.

A greater number of poems presented in these pages has been culled from the celebrated magazine, the "*Saraswati*," for which I am greatly indebted to its learned editor, Pandit Mahavir Prasad Dwivedi.

PREFACE TO THE SECOND EDITION (1913)

The cordial reception and kind appreciation which the reading public were good enough to extend to this little book were beyond all expectation. It is really a fortune if a book in Hindi is called to the press for the second edition within so short a time. The present edition is a great improvement on its predecessor, and I hope it will not fail to charm its reader.

The kind recognition of this book as a Prize and Library Book in the Hindi schools of the C. P.'s is indeed a great encouragement and is a nice mark of worthy appreciation of its merits by the Educational Authorities of the Central Provinces and the Compiler and the Publisher express their deep sense of gratitude to them.

L. P. PANDEYA.

THIRD EDITION. (1917)

The third edition of the book was a reprint of the 2nd edition and was published in 1917. The world-renowned scholar and orientalist Sir G. A. Grierson, who is a great authority on *Hindi* was pleased to pronounce the book as “ *an excellent collection of Modern Hindi verse* ”.

PREFACE TO THE FOURTH EDITION.

(1932)

The third edition of this book was a reprint of the 2nd edition and it was published in 1917. In the present edition mis-prints and other mistakes have been duly corrected. My thanks are due to Pandit Narmada Prasad Mishra, B.A., Visharad, for undertaking the publication of the present edition.

It is gratifying to note that this compilation is being used as a text book for higher classes in many National Colleges.

Since the appearance of the 3rd edition of this compilation, many beautiful selections of modern verse have been published presenting models and examples of Hindi poetical compositions. With the forces at work in and outside our country our literature is also passing through a transition period. There has been a welcome awakening towards reforming the style and flow of thought. In this edition I have included a few compositions of the present day poets belonging to the new school in which the readers will, I hope, take a lively interest.

L. P. PANDEYA.

वक्तव्य

आजकल जब कि भारतवासी-गण हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा बनाने का विचार कर रहे हैं तब प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी सज्जन का यह कर्तव्य है कि वह हिन्दी-साहित्य के अङ्ग, उपाङ्गों को पूर्ण कर उसे उन्नत बनाने के लिए तन, मन, धन से प्रयत्न करे ताकि अन्यान्य प्रतिस्पर्धी साहित्यों को कभी यह कहने का अवसर न मिले कि हिन्दी का साहित्य सर्वाङ्ग-पूर्ण नहीं है। इसी कर्तव्यानुरोध से मैंने भिन्न भिन्न कवियों की रस-वती कविताओं का यह संग्रह प्रस्तुत किया है। हिन्दी में ऐसे कवितात्मक संग्रह नहीं हैं यह मैं नहीं कहता; किन्तु मैं सोचता हूँ कि यह संग्रह अतीव मनोरञ्जक और सामयिक हाने के कारण पाठकों को विशेष रुचिकर होगा।

इस संग्रह में 'खड़ी बोली' और 'मधुर व्रजभाषा' दोनों की कविताएँ संगृहीत हैं। कविताओं को मैंने तीन भागों में विभक्त किया है। तीसरे भाग की कविताएँ अन्यान्य भागों में विभक्त हो सकती हैं। पर मैंने सुविधा के लिए अधिक भाग करना उचित नहीं समझा।

हमारे यहाँ के 'प्रेजुएट' सज्जन-गण बहुधा यह कहा करते हैं कि हिन्दी में दो-तीन काव्य-संग्रहों को छोड़ स्फुट कविता की कोई पढ़ने-योग्य उत्तम पुस्तक नहीं है। बात ठीक भी है;

क्योंकि जैसी उच्चभाव और सुरस-पूर्ण कविताएँ उन्हें अंग्रेजी में मिलती हैं वैसी हिन्दी में मिलती नहीं। तथापि मैं सोचता हूँ कि यह संग्रह उनके मन को अपनी ओर अवश्य आकर्षित कर सकेगा।

अन्त में मैं उन कवियों को जिनकी कविताएँ इस संग्रह में संगृहीत की गई हैं, कृतज्ञता-स्वीकार-पूर्वक धन्यवाद देता हूँ। कवियों से उनकी कविता संगृहीत करने की आज्ञा माँगने में व्यर्थ विलम्ब और असुविधा होगी, इस सम्भावना से मैंने बिना उनकी अनुमति के उनकी कविताएँ संगृहीत करने की ठिठाई की है। आशा है, वे हिन्दी के उपकार के नाते इसके लिए मुझे क्षमा कर अपनी महानुभावता का परिचय देंगे।

कविता-कुसुम-माला की अधिकांश कविताएँ हिन्दी की सुप्रसिद्ध मासिकपत्रिका “सरस्वती” से संग्रहीत की गई हैं। इसके लिए मैं सरस्वती-सम्पादक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी की धन्यवाद-पूर्वक कृतज्ञता स्वीकार करता हूँ।

आपाढ़ शुक्ल ११, १९६६;
२९ जून, १९०९, मङ्गलवार

}

—लोचनप्रसाद।

पाठकों से एक निवेदन

यह प्रायः सभी सहृदय पाठकों को ज्ञात है कि काव्य तीन प्रकार के होते हैं:—१—गीत-काव्य^१ (Lyrical poetry), २—श्रव्य-काव्य^२ (Epic poetry), और ३—दृश्य-काव्य^३ (Dramatic poetry), इनके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के और दो भाग किये हैं, यथा:—

(१) सम्भ्रान्त कविता (Poetry of Aristocracy) जिस में राजा, वीर योद्धा, गुणवान् राजपुत्र, रूपवती कन्या, यज्ञ, युद्ध आदि वृहत् घटनाओं का वर्णन रहता है ।

(२) साधारण कविता (Poetry of Democracy) जिस में प्रतिदिन की साधारण घटना, किसान, भिक्षुक, दरिद्र यात्री, पशु, पक्षी, खेत, वन, तृण, पल्लव आदि का वर्णन रहता है ।

पुनश्च कविता के दो भेद और हैं १—प्राकृत (Realistic), और २—आदर्श^४ (Idealistic) प्राकृत कविता में संसार में जो कुछ प्रत्यक्ष देखा जाता है उसका वर्णन रहता है । घटना के गुण-दोष के विषय में कवि जिम्मेदार नहीं होता । इस श्रेणी के कविगण अभिसारिका, नरहत्या तथा नग्न-रमणी-मूर्ति तक चित्रित करने की स्वाधीनता रखते हैं । आदर्श कविता में अनुकरणीय पवित्र-चरित्र नायक-नायिकाओं के चित्र चित्रित किये

१ जैसे गीतगोविन्द, सूरसागर, श्रीहरिश्चन्द्रकृत प्रेमफुलवारी आदि ।
२ रामायण, महाभारत, रामचन्द्रिका आदि । ३ शकुन्तला, सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस आदि । ४ पण्डित महावीरप्रसाद द्वारा सम्पादित “ कविता-कलाप ” में इस श्रेणी के पद्य पाठकों को देखने में आवेंगे ।

जाते हैं। समाज के दूषण जिससे दूर हों, प्रेम तथा सहानु-
भूति जिससे बढ़े, कलुषित-चरित्र पवित्र हों ऐसी बातों पर
विशेष ध्यान दिया जाता है। आदर्श कविता की मूल घोषणा
धर्म की जय और पाप का पराजय है।

कविता उपदेश-गर्भक (Didactic) एवं सौन्दर्य-चित्र-मूलक
(Artistic) इन दो श्रेणियों में भी विभक्त है। प्रथम श्रेणी
के कवि-गण उपदेशक या गुरु की भाँति पाठकों को नैतिक वक्तृता
प्रदान करते हैं। द्वितीय श्रेणी के कवि-वृन्द बाह्य तथा अन्तर
प्रकृति की निसर्ग माधुरी वर्णन करते चले जाते हैं। वे उपदेश
देने के प्रयासी बिलकुल नहीं होते।

कविता, व्यक्तित्व-हीन (Abstract) और व्यक्तित्व-युक्त
(Concrete) इन दो भागों में और भी विभक्त की जाती है,
अर्थात् व्यक्तित्व-हीन कविता किसी वस्तु विशेष से सम्बन्ध
नहीं रखती। वह वस्तु-समुदाय के लिए लागू हो सकती है।
किन्तु दूसरे प्रकार की कविता के लक्षण प्रथम श्रेणी की कविता
के लक्षणों से भिन्न अर्थात् उलटे होते हैं *।

पाठक-गण इस संग्रह की कविता का पाठ करते समय अब
यह सहज ही समझ सकेंगे कि कौन सी कविता किस श्रेणी की
है। इसीलिए यह निवेदन किया गया। आशा है, इसे कविता-
प्रेमी सज्जन व्यर्थ तथा अनुपयोगी न समझेंगे। —लेखक।

* श्रीयुत नन्दकिशोर बल बी० ए० के एक ओड़िया लेख के
आधार पर लिखित।

कला एवं रहस्यवाद



योगिराज भर्तृहरिजी ने “साहित्य-सङ्गीत-कला” को मानवता का प्रधान लक्षण माना है। इस प्रकृत जीवन की त्रिवेणी का सबसे प्राचीन रूप हम “ऋक् साम यजुः” के त्रयी में पाते हैं। साहित्य में रसात्मक वाक्य या शब्द और मन्त्र, सङ्गीत में ध्वनि, नाद और गायन, तथा कला में रेखा-चित्रण, वेदिका तथा मण्डपा-च्छादन, बाह्य एवं अन्तर सौन्दर्य की प्रधानता मानने पर जीवन की पूर्णता के समस्त उपकरण हमें एक ही आधार में लभ्य हो जाते हैं। पर वेदों में हमारी अखंड पूज्य बुद्धि और परम पवित्र धर्म-भाव उन्हें सदैव दिव्य एवं ईश्वरीय ज्ञान के अलौकिक आकर मानने में हमें विवश किया करते हैं।

भारतीय साहित्याचार्यों ने ‘रस’ को कविता की आत्मा के रूप में माना है। कहा भी है:—“व्यर्थं विना रसमहो गहनं कवित्वम्”। साहित्यान्तर्गत ‘काव्य’ में रस उस आनन्द को कहते हैं जो लोकोत्तर अर्थान् अलौकिक हो। साहित्य के इस ‘रस’ का सम्बन्ध हम जब तैत्तिरीयोपनिषद् के ‘रसो वै सः’ × के साथ जोड़ते हैं तब तो अलौकिक आनन्द मात्र हमें उस

× सम्पूर्ण प्राणियों को जो आनन्दित करता है उसी परमात्मा का नाम ‘रस’ है। यजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक ७

असीम रससागर के विन्दु और जलकण से भिन्न नहीं ज्ञात होते। इसी सत्य को ध्यान में रखते हुए हमारे प्राचीन कवि-कावियों ने रसेश्वर आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रजी को अपने अपने काव्यों का वर्ण्य विषय मान रखा था। वर्तमान युग के हमारे 'भक्त' कवि भी उन्हीं 'रसेश' परमात्मा की उपासना में तल्लीन देख पड़ते हैं:—

“रस, रसरूप, रसेम, रसिक, रससृष्टि-विधायक

जयति माधुरी-मूर्ति मधुर-वचनानृत-नायक”*

साहित्य, सङ्गीत, कला—इन तीनों में रस का वही प्राधान्य है जो परमात्मा के प्रकाश का प्राणिमात्र के शरीर के साथ है। अभिप्राय यह कि साहित्य, सङ्गीत एवं कला में जो कुछ 'सरस' है वह अवश्य उदात्त है, सुन्दर है और स्थायी है। वह मानव जाति एवं सामाजिक जीवन के लिए हितकारक है, बोध-प्रसारक है और आनन्द-दायक है।

साहित्य में कला का जो स्थान पाश्चात्य विद्वान् निर्धारित करते हैं वह अतीव उच्च और महान् है। कला की उनकी परिभाषा यह है कि जो अनन्त के साथ हमारा सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हो। Art is that which carries us to Infinity** एक दूसरी परिभाषा यह है कि सौन्दर्य के प्रकाश का नाम 'आर्ट' (कला) है। मानव हृदय में जो चिर सुन्दर, चिर

* कविकीर्तन—वियोगी हरि।

मधुर, चिर शान्तिमय सत्व विद्यमान है उसका आविष्कार करना कला का धर्म है। इसे हम इस प्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि कला द्वारा हमें रस की सर्वाङ्गीण अनुभूति सुलभ हुआ करती है। रस-प्रकाश को—“सत्यं शिवं सुन्दरं” के तत्व को—साहित्य, सङ्गीत और कला द्वारा हृदयङ्गम कराने के सफल प्रयास को कला (आर्ट) अपना मुख्य उद्देश मानती है। हिन्दी के एक सुप्रसिद्ध विद्वान् के शब्दों में “सुकुमार कला सत्य, शिव और सुन्दर की भाँकी का प्रत्यक्ष दर्शन, और इस साक्षात्कार से प्राप्त हुई आनन्द-मय स्थिति का प्रतिभा द्वारा सहज एवं सुचारु उद्गार है।” †

कला की जो परिभाषा पाश्चात्य विद्वान् करते हैं ठीक उसी भाँति का विवेचन हम ‘प्रश्नोपनिषद्’ में भी पाते हैं:—

अरा इव रथ नाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।

तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥

रथचक्र की नाभि में ‘अरा’ दण्डों के समान जिसमें कलाएँ स्थित हैं उस जानने योग्य पुरुष को जानो ताकि तुम लोगों को मृत्यु न सतावै ।

रथचक्र की नाभि के दण्डों की भाँति प्रत्येक कला उस मृत्युञ्जय परम पुरुष में जाकर मिलती है। विदित हो कि कोसलदेशीय हिरण्यनाभ नामक राजपुत्र ने भरद्वाज के पुत्र सुकेशा से जिस पोङ्गशकलं पुरुषं (सोलह कला वाले पुरुष)

के सम्बन्ध में पूछा था उसी प्रश्न के उत्तर में ऊपर दिया हुआ श्लोक कहा गया है। 'कला' शब्द का प्रयोग इस स्थल पर विचारणीय है।

'कला' शब्द हिन्दी-साहित्य के लिए भी नूतन नहीं है। विश्व-वन्द्य महाकवि गुसाई तुलसीदास ने बाल-काण्ड में लिखा है—

कवि न होउं नहिं वचन-प्रवीना ।

सकल कला सब विद्या-हीना ॥

यहाँ कवि और कला उभय शब्दों का प्रयोग मनन योग्य है। कलाविद् होना कवि का मुख्य गुण है; क्योंकि उसे कला द्वारा अपने काव्य को अमरता प्रदान करने की शक्ति मिलती है। कवि के काव्य में जो सौन्दर्य है वही साहित्य में कला के नाम से अभिहित है। यह सौन्दर्य कवि की शक्ति अथवा प्रतिभा के द्वारा प्रकट हुआ करता है और कवि-प्रतिभा (या शक्ति) परमेश्वर की देन है। सौन्दर्य सत्य-मूलक हुआ करता है और जो सत्य है वह सुन्दर है—शिव है। अतः साहित्य में कला वह है जो हमें "सत्य, सुन्दर और शिव" की ओर ले जाती है। मानव-समाज के अथवा मानवी मृष्टि के चिरन्तन सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कला ही के द्वारा हुआ करती है। सौन्दर्य मानव-हृदय की एक गूढ़ वेदना है जो आनन्द के शान्तिसागर के लिए सतत व्याकुल रहा करती है और जिसका चरम लक्ष्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' में अपने को लीन कर लेना है। कला से मुख्यतः

ललित कला का ही बोध होता है। वह कई भागों में विभक्त हैं—१ काव्य, २ सङ्गीत, ३ स्थापत्य, ४ भास्कर्य, ५ चित्र।

इन समस्त कलाओं की उत्पत्ति एक विशेष प्रकार के अनुभव से होती है। इस अनुभव को हम सरस अनुभव (Aesthetic experience) या सौन्दर्य-बोध कह सकते हैं। इसी सौन्दर्य-बोध अथवा सरस अनुभव को उपरि-लिखित कलाओं के द्वारा प्रकट किया जाता है।

कला के सम्बन्ध में यह संक्षिप्त सूचना देकर हम 'रहस्यवाद' पर थोड़े में कुछ कहने का प्रयत्न करते हैं। एक प्रसिद्ध साहित्य-विशारद वङ्ग विद्वान् श्रीयुत नलिनीमोहन सन्याल एम० ए० ने मैथिलकोकिल "विद्यापति" पर एक लेख प्रकाशित कराया है। रहस्यवाद या छायावाद का एक उदाहरण देते हुए आप लिखते हैं:—विद्यापति ने जीवात्मा की परमात्मा से योग की आकांक्षा को किस सुन्दरता से वर्णन किया है। देखिए:—

सखि, कि पूँछसि अनुभव मोय ।

सोइ पिरीति अनुराग बखानिते

तिले तिले नूतन होय ॥

जनम अवधि हम रूप निहार लुँ ,

नयन न तिरपित भेल ।

सोइ मधुर बोल श्रवणहिँ सुन लुँ

श्रुत पथे परश न गेल ॥

कत मधु यामिनि रभसे गवाँयलु
 न बुझलुँ कैसन केली ।
 लाख लाख युग हिये हिये राखलुँ
 हिया जुइन न गेली ॥
 कत विदगध जन रसे अनुमगन
 अनुभव काहु न पेख ।
 विद्यापति कह पराण जुड़ावते
 लाखे न मीलल एक ॥

इस कविता में भाव की कुछ अपूर्व गूढ़ता है । इसका अर्थ सम्पूर्ण हृदयङ्गम नहीं होता । भावुक लोग अपने अनुभव के द्वारा ऐसी कविताओं का तात्पर्य ग्रहण कर लेते हैं । Wordsworth की Lucy Gray इत्यादि और रवीन्द्रनाथ की “सोनारतरी” इत्यादि कविताएँ इस प्रकार की हैं । यही Mysticism या ध्यायावाद है । विद्यापति की उस कविता के भाव के साथ Keats के For ever wilt thou love, and she be fair. की तुलना कीजिए ।

ध्यायावाद अँग्रेजी के mysticism (मिस्टीसीज़म) के अर्थ में प्रयुक्त होता है । अनेक विद्वान् उक्त अँग्रेजी शब्द के सम्पूर्ण अर्थसूचक शब्द ‘रहस्यवाद’ का उपयोग करते हैं । बहुतेरे लोग ‘भक्तिवाद,’ ‘प्रेम-वाद’ और ‘अपरोक्षज्ञानवाद’ द्वारा उस शब्द के अर्थ को व्यक्त करने के पक्षपाती दीखते हैं । ससीम में असीम की अनुभूति अथवा परिमित में अपरिमित का अनुभव—यही

छायावाद की परिभाषा है। हमारे देश में वर्तमान युग में महा-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर सुप्रसिद्ध छायावादी विश्व-कवि हैं। पूर्वकाल में भी हिन्दी में महात्मा कबीरदास, भक्त-शिरोमणि मीराबाई और रैदास आदि रहस्यवादी कवि हो गये हैं। आत्म-साक्षात्कार जिन कवि साधकों को सौभाग्य से लाभ हो जाता है, उनकी वाणी में वह दिव्य पवित्रता और सरसता आ जाती है कि उसकी मिठास पल-पल पर नई होती जाती है। आनन्द की अनुभूति काव्य की रमणीयता और नवीनता से ऐसी प्लावित रहती है कि 'रस' का रूप ही बन जाती है। इसे 'रस'-वाद कहिए या 'रहस्य'-वाद कहिए। "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।



कविताओं का सूचीपत्र

स्तुति-प्रार्थना-आदि-विषयक

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१—ईश्वर की महिमा—पं० श्रीधर पाठक	...	३३	
२—प्रभु-प्रताप—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय	...	३४	
३—ईश-प्रार्थना—पं० जनार्दन झा	...	३९	
४—ईश-गुण-गान—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	४१	
५—ज्ञानारुणोदय—बाबू रामदास गौड़, एम० ए०	...	४५	
६—जम्बूद्वीप-प्रशंसा—ठाकुर जगन्मोहनसिंह	...	४८	
७—भारत-वन्दना—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	४९	
८—मातृ-वन्दना—पं० सत्यनारायण शर्मा	...	५०	
९—प्रभु-विनय—पं० एतापनारायण मिश्र	...	५५	
१०—दीन-निहोरा—पं० कामताप्रसाद गुरु	...	५६	
११—भारत-महिमा—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	५७	
१२—प्रभु-प्रार्थना—पं० माधवप्रसाद मिश्र	...	६२	
१३—ईश-स्तवन—पं० रामदयालु तिवारी, बी० ए०, एल- एल० बी०	...	६४	
१४—ईश-वन्दना—पं० गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री	...	६७	

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१५—	जय हिन्दुस्तान—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	६९
१६—	अभ्यर्थना—श्रीयुक्त गोपालशरणसिंह	...	७२
१७—	भक्त की अभिलाषा—पं० गयाप्रसाद शुक्ल		
	“सनेही”	७४
१८—	विनय—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	७६
१९—	साध—पं० सुमित्रानन्दन पन्त	...	७७
२०—	उपचार—पं० रामाज्ञा द्विवेदी ‘समीर’, एम० ए०		७८
२१—	श्रीकृष्ण विनय—पं० श्यामाकान्त पाठक	...	७९
प्राकृतिक शोभा एवं दृश्य-वर्णन			
२२—	गङ्गा की शोभा—भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र		८२
२३—	हिमालय—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	८३
२४—	,, ,, —पं० श्रीधर पाठक	८४
२५—	दिल्ली-दरबार-दृश्य—पं० बदरीनारायण चौधरी		८७
२६—	प्राचीन ग्राम्य-स्मृति—बाबू बालमुकुन्द गुप्त	...	९०
२७—	ग्रामीण-विनोद—पं० श्रीधर पाठक	...	९२
२८—	शम्भु की समाधि*—पं० श्यामविहारी मिश्र		
	एम० ए० और पं० शुक्रदेवविहारी मिश्र बी० ए०		९३
२९—	प्रकृति—पं० वागीश्वर मिश्र	...	९६
३०—	शान्तिमयी शय्या—पं० सत्यशरण रतूड़ी		९९
३१—	पल्लो-चित्र—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	१००
३२—	श्मशान का दृश्य—बाबू जगन्नाथदास, बी० ए०		१०२

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
३३—	मेघदूत—(मार्ग-वर्णन)—	राजा लक्ष्मणसिंह...	१०४
३४—	बम्बई का समुद्र-तट—	श्रीयुत कन्हैयालाल पोद्दार	११०
३५—	वर्षा-ऋतु में ग्राम्य-दृश्य—	पाण्डेय लोचनप्रसाद	११२
३६—	महानदी—	पाण्डेय मुरलीधर ...	११४
३७—	बुंदेलखण्ड का सावन—	राजा खलकसिंह ...	११८
३८—	महाकोशल की राजधानी श्रीपुर—	पाण्डेय लोचन- प्रसाद	१२१
३९—	भोजशाला—‘वाणीभूषण’ महन्त	लक्ष्मणाचार्य जी “अनुज”	१२२
४०—	खण्डहर—	पं० भरोसेलाल चौबे ...	१२३
४१—	तारों के प्रति—	प्रो० रामकुमार वर्मा, एम० ए०	१२४
४२—	वसन्त-स्वागत—	पाण्डेय लोचनप्रसाद ...	१२४
४३—	वसन्त—	पं० सत्यनारायण शर्मा ...	१२६
४४—	बरसाती कविता—	श्री० ललिताप्रसाद और श्रीयुत राय देवीप्रसाद वी० ए०, बी० एल० ...	१२८
४५—	पावस-प्रमोद—	पं० सत्यनारायण शर्मा ...	१३०
४६—	वर्षा का आगमन—	श्रीयुत राय देवीप्रसाद बी० ए०, बी० एल०	१३४
४७—	वर्षा की बहार—	पं० रूपनारायण पाण्डेय ...	१३५
४८—	वर्षा-वर्णन—	पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी० ए०	१३६
४९—	शरदागमन—	श्रीयुत लोकमणि ...	१४०

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
५०—	शरद—पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी	...	१४१
५१—	हेमन्त—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	१४२
५२—	शिशिर—ठाकुर जगन्मोहनसिंह	...	१४५
५३—	शिशिर-वर्णन—पाण्डेय विद्याधर	...	१४५
५४—	सन्ध्या—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	१४६
५५—	प्रभात " " " "	...	१४९
५६—	प्रभात—एक भारतीय आत्मा	...	१५१
५७—	मध्याह्न—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	१५२
५८—	उषा से—बाबू मंगलप्रसाद विश्वकर्मा	...	१५५

शिन्ता और उपदेश

५९—	विचार करने-योग्य बातें—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	१५७
६०—	कर्मवीर—पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय	१५९
६१—	विजयादशमी—श्रीमती तोरन देवी "लली"	१६२
६२—	स्वदेश-प्रीति*—पं० गौरीदत्त वाजपेयी, एम० ए०	१६३
६३—	शिशु—पं० रामसेवक त्रिपाठी, बी० ए०	१६४
६४—	मेरी बटिया—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	१६४
६५—	बेटी की विदा*—पं० कामताप्रसाद गुरु	१६५
६६—	दुहिता के शोक में—श्रीयुक्त शम्भूदयाल सक्सेना	१६९
६७—	शिशिर पथिक*—पं० रामचन्द्र शुक्ल	१७०
६८—	साहित्य-सेवा—पं० हरिवंश शर्मा, काव्यतीर्थ	१७७

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
६९—	पुस्तक-प्रेम—पं० गिरिधर शर्मा	...	१७९
७०—	शरीर-रक्षा—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी	...	१८०
७१—	ज्ञानोद्गार—पं० नाथूराम शंकर शर्मा	...	१८१
७२—	बुलबुल—पं० सत्यशरण रतूड़ी	...	१८१
७३—	कवि-कीर्ति—बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, एम० ए०	...	१८४
७४—	अनुरोध—पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	...	१८६
७५—	चलते समय—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	...	१८६
७६—	पत्नी-वियोग—पं० मालिकराम त्रिवेदी	...	१८७
७७—	पितृ-वियोग—पं० अनन्तराम पाण्डेय	...	१८९
७८—	मेरी मैया—बाबू जैनेन्द्रकिशोर	...	१९१
७९—	मातृ-वियोग—कविवर "हितैषी"	...	१९३
८०—	जब नन्हा-सा मैं बच्चा था—श्रीयुक्त मोहनसिंहजी 'दीवाना', एम० ए०	...	१९४
८१—	प्रताप-विसर्जन—बाबू राधाकृष्णदास	...	१९५
८२—	वीर रानी दुर्गावती—पं० रामचन्द्र शुक्ल	...	२००
८३—	राखी—श्रीरामनाथलाल 'सुमन'	...	२०३
८४—	अन्योक्तियाँ—पं० श्यामनाथ शर्मा	...	२०३
८५—	अविचार और कृतघ्नता—श्री० पदुमलाल बख्शी, बी० ए०	...	२०४, २०५
८६—	पुस्तकावलोकन-प्रेमी विद्वान—बाबू मुरलीधर, बी० ए०	...	२०५

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
८७—	युवक—पं० मातादीन शुक्ल	...	२०६
८८—	वीणा—पं० कृष्णविहारी मिश्र, बी० ए०, एल-एल० बी०	...	२०७
८९—	राम—पं० रामनरेश त्रिपाठी	...	२०७
९०—	वीर-धर्म—लाला भगवानदीन “दीन”	...	२०९
९१—	जौहर-व्रत—श्रीयुक्त वियोगी हरि	...	२०९
९२—	क्षत्राणी की वाञ्छा—श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान	...	२१०
९३—	वीर-वचनावली—पं० रामचरित उपाध्याय	...	२१०
९४—	पुनः करो उद्योग—पं० गोविन्दशरण त्रिपाठी	...	२१३
९५—	स्वागत—पाण्डेय वेचन शर्मा “उग्र”	...	२१३
९६—	प्रतिज्ञा—पं० अम्बिकादत्त व्यास	...	२१४
९७—	अनुरोध—श्रीयुक्त जगन्नाथप्रसाद “मिलिन्द”	...	२१५
९८—	जीवन-चिन्ता—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	२१६
९९—	ग्रीष्म का अन्तिम गुलाब—श्रीयुक्त हरिवल्लभ और पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी	...	२२२
१००—	कुछ बन न पड़ा—श्रीयुक्त रघुपतिसहाय “फिराक़,” बी० ए०	...	२२३
१०१—	शोक-सन्ताप—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	२२४
१०२—	प्रकाश को रेखा—पं० राम अवध द्विवेदी, बी० ए०	...	२२५
१०३—	जीवन-गीत—पुरोहित लक्ष्मीनारायण	...	२२६

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१०४—	खैयाम की रुबाइयाँ—	पं० बलदेवप्रसाद मिश्र,	
	एम० ए०, एल-एल० बी०	...	२२७
१०५—	तूझ—	पं० केशवप्रसाद पाठक, बी० ए०	...
		...	२२९
१०६—	मनोव्यथा—	पं० रामनरेश त्रिपाठी	...
		...	२३०
१०७—	शुक और व्यास—	बाबू रामदास गौड़, एम० ए०	...
		...	२३१
१०८—	बाल्य-स्मृति—	पाण्डेय लोचनप्रसाद	...
		...	२३५
१०९—	श्मशान—	" " "	...
		...	२३६
११०—	ग्रामीण-विलाप—	पं० कामताप्रसाद गुरु	...
		...	२३७
१११—	बन्दी का स्वप्न—	प० अनूप शर्मा, बी० ए०,	
	एल० टी०	...	२४१
११२—	कोकिल-पंचक—	बाबू भगवान्दास जायसवाल,	
	बी० ए०	...	२४३
११३—	प्रशस्त पाठ—	पं० नाथूराम शंकर शर्मा	...
		...	२४४
११४—	अंतिम आकांक्षा से—	पं० इलाचन्द्र जोशी	...
		...	२४६
११५—	वन्दनीय बलिदान—	पं० जगदीश झा 'विमल'	...
		...	२४८
११६—	मदन-दहन—	पं० श्यामविहारी मिश्र एम० ए०	
	और पं० शुकदेवविहारी मिश्र, बी० ए०	...	२४८
११७—	गृह-स्मरण—	पाण्डेय लोचनप्रसाद	...
		...	२५१
११८—	कवि और कविता—	पं० रामचरित उपाध्याय	...
		...	२५३
११९—	कवि—	श्रीयुक्त मोहनलाल महतो 'वियोगी'	...
		...	२५५
१२०—	कविता के प्रति—	बाबू मैथिलीशरण गुप्त	...
		...	२५६

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१२१—	युवा संन्यासी—पं० माधवप्रसाद मिश्र	...	२५६
१२२—	सेविका—पं० इलाचन्द्र जोशी	...	२५९
१२३—	गाय—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	२६०
१२४—	आदर्श वैष्णवः—पाण्डेय लोचनप्रसाद	...	२६२
१२५—	माता का विलापः—	" "	...
१२६—	सर्वप्राप्ति काल—	" "	...
१२७—	एकान्तवास का सुखः—	" "	...
१२८—	नीति-सागर—	" "	...
१२९—	कृपक	" "	...
१३०—	ययाति और पुरु—	" "	...
१३१—	तुलसीदास और रामायण—पं० बदरीनाथ भट्ट, बी० ए०	...	२८४
१३२—	जीव-दयाः—पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए०	...	२८५
१३३—	शव-शिला-लेखः—पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र, बी० ए०	...	२८५
१३४—	प्रेम की शक्ति—पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, एम० ए०	...	२८७
१३५—	पागल—पं० श्रीरत्न शुक्ल, एम० ए०	...	२८८
१३६—	शील—पं० कामताप्रसाद गुरु	...	२८८
१३७—	मातृ-भूमि—पं० मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए०	...	२९१
१३८—	आज और कल—श्रीयुत सैयद अमीर अली "मीर"	...	२९४

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१३९—	भरत—बाबू जयशङ्कर “प्रसाद”	...	२९६
१४०—	फूल की चाह—पं० माखनलाल चतुर्वेदी	...	२९९
१४१—	दलित कुसुम—पं० रूपनारायण पाण्डेय	...	२९९
१४२—	जीवन-सङ्गीत—बाबू जयशङ्कर ‘प्रसाद’	...	३०१
१४३—	शोकाञ्जलि—पाण्डेय मुकुटधर	...	३०२
१४४—	आँसू—श्रीमती महादेवी वर्मा, बी. ए.	...	३०३
१४५—	साधारण मनुष्य की दस अवस्थाएँ	<div style="display: inline-block; vertical-align: middle;"> } राय साहव पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी वी० ए० और बाबू बिसाहूराम </div>	... ३०४
१४६—	मन—पं० मेदिनीप्रसाद पाण्डेय	...	३०७
१४७—	प्रेम-परिचय—पं० माधवप्रसाद शुक्ल	..	३०८
१४८—	वन्दना—श्रीयुक्त वियोगी हरि	...	३१२
१४९—	ग्राम-गुण-गान—पाण्डेय मुरलीधर	...	३१२
१५०—	निद्रा—पं० शुक्लालप्रसाद पाण्डेय	...	३१७
१५१—	कोलाहल—पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी	...	३१८
१५२—	सुखमय जीवन—पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी	...	३१९
१५३—	संसार—श्रीयुक्त भगवतीचरण वर्मा	...	३२१
१५४—	अन्योक्तियाँ—बाबू भगवानदास जायसवाल	...	३२२
	वी० ए० और श्रीयुत सैयद अमीर अली “मीर”		
१५५—	काल की कुटिलता—पाण्डेय मुकुटधर	...	३२५
१५६—	शिशिर-निशा—पं० कृष्णचैतन्य गोस्वामी	...	३२६

संख्या	नाम	लेखकों के नाम	पृष्ठ
१५७—	मूढ़-मानव—	पाण्डेय मुकुटधर और पं०	
	केशवानन्द चौवे	...	३२९
१५८—	पाटलिपुत्र की ओर से—	पं० लक्ष्मीनारायण	
	मिश्र, वी० ए०	...	३३०
१५९—	बाल-काल—	पाण्डेय लोचनप्रसाद	...
		...	३३०
१६०—	वृन्दावन-वर्णन—	पं० श्यामाकान्त पाठक	...
		...	३३६
१६१—	सौन्दर्य—	श्री बालकृष्णराव	..
		...	३३८
१६२—	जुलाहं से—	श्री० सूर्यनाथ तकूर, एम० ए०	...
		...	३३९
१६३—	सती—	पं० रामनारायण मिश्र, एम० एस-सी०	३४०
१६४—	तुम—	श्रीयुक्त नर्मदाप्रसाद खरे	...
		...	३४१
१६५—	कवि से—	पं० देवीदयाल चतुर्वेदी “मस्त”	...
		...	३४३

नोट—जिन कविताओं में ० चिह्न है वे दूसरी भाषाओं से अनुवादित हैं ।



कविता-कुसुम-माला

ईश्वर की महिमा

ध्यान लगाके जो देखो तुम सृष्टी की सुघराई को ।
बात बात में पाओगे उस ईश्वर की चतुराई को ॥
ये सब भाँति भाँति के पक्षी ये सब रङ्ग रङ्ग के फूल ।
ये वन की लहलही लता नव ललित ललित शोभा की मूल ॥
ये नदियाँ ये भील सरोवर कमलों पर भौरों की गुञ्ज ।
बड़े सुरील बोलों से अनमोल धनी वृक्षों की कुञ्ज ॥
ये पर्वत की रम्य शिखा औ शोभा-सहित चढ़ाव-उतार ।
निर्मल जल के सोते भरने सीमा-गर्हित महा विस्तार ॥
वै प्रकार की ऋतु का होना निज नवीन शोभा के मङ्ग ।
पाकर काल वनस्पति फलना रूप बदलना रङ्ग-विरङ्ग ॥
चाँद-सूर्य की शोभा अद्भुत बारी से आना दिन-रात ।
त्यों अनन्त तारा-मण्डल से मज जाना रजनी का गात ॥

यह समुद्र का पृथ्वी-तल पर छाया जो जलमय विस्तार ।
 उसमें से मेघों के मण्डल हों अनन्त उत्पन्न अपार ॥
 लरजन गरजन घन-मण्डल की विजली वरपा का सञ्चार ।
 जिसमें देखो परमेश्वर की लीला अद्भुत अपरम्पार ॥

—श्रीधर पाठक ।

प्रभु-प्रताप

चाँद वो तारे गगन में घूमते हैं रात-दिन ।
 तेज वो तम से दिशा होंती है उजली वो मलिन ।
 वायु बहती है घटा उठती है जलती है अग्नि ।
 फूल होता है अचानक वज्र से बढ़कर कठिन ।
 जिम निराले काल के भी काल के कौशल के बल ।
 वह करे सब काल में संसार का मङ्गल सकल ॥ १ ॥

क्या नहीं है हाथ में उसके वह क्या करता नहीं ।
 चाहता जो कुछ है वह फिर वह कभी डरता नहीं ।
 सुख नहीं पाता है वह जिमपर है वह डरता नहीं ।
 कोन फिर उसको भरे जिसको है वह भरता नहीं ।
 जितनी हैं करतूत उसकी वह निराली हैं सभी ।
 उसके भेदों का पता कोई नहीं पाता कभी ॥ २ ॥

कितने ही सुन्दर बसे नगरों को देता है उजाड़ ।
 धूल कर देता है ऊँचे ऊँचे कितने ही पहाड़ ।
 एक भटके में करोड़ों पेड़ लेता है उखाड़ ।
 इस सकल ब्रह्माण्ड को पल भर में सकता है बिगाड़ ।
 उसके भय से काँपते हैं देवता भी रात-दिन ।
 मोम हो जाता है वह भी जो है पत्थर से कठिन ॥ ३ ॥

राज पाकर जिसको करते देखते थे हम विहार ।
 माँगता फिरता है वह कल भीख हाथों को पसार ।
 एक टुकड़े के लिए जो घूमता था द्वार द्वार ।
 आज धरती है कँपाती उसके धौंसे की धुकार ।
 नित्य ऐसी कितनी ही लीला किया करता है वह ।
 रङ्ग करता है कभी सिर पर मुकुट धरता है वह ॥ ४ ॥

कितने ही उजड़े हुए घर को बसाता है वही ।
 कितने ही बिगड़े हुए को भी बनाता है वही ।
 गिरनेवाले को पकड़ करके उठाता है वही ।
 भूलनेवाले को सीधा पथ दिखाता है वही ।
 इस धरा पर है नहीं सुनता कोई जिसकी कही ।
 उस दुखी की सब बिथा सुनता समझता है वही ॥ ५ ॥

डाल सकता शीश पर जिसके पिता छाया नहीं ।
 गोद माता की खुली जिसके लिए पाया नहीं ।

है पसीजी देखकर जिसकी बिथा जाया नहीं ।
 काम आती दीखती जिसके लिए काया नहीं ।
 बाँह ऐसे दीन की है प्यार से गहता वही ।
 सब जगह सब काल उसके साथ है रहता वही ॥ ६ ॥

वह अँधेरी रात जिसमें है धिरी काली घटा ।
 वह विकट जङ्गल जहाँ पर शेर रहता है डटा ।
 वह महा मरघट पिशाचों का जहाँ है जमघटा ।
 वह भयङ्कर ठाम जो है लांथ से बिलकुल पटा ।
 मत डरो यह कुछ किसीका कर कभी सकते नहीं ।
 क्या सकल संसार पाता है पड़ा सोता कहीं ॥ ७ ॥

जिस महा मरुभूमि से कढ़ती सदा है लू-लपट ।
 बारि की धारा मधुर रहती उर्साके है निकट ।
 जिस विशद जल-राशि का है दूर तक मिलता न तट ।
 है उसीके बीच हो जाता धरातल भी प्रगट ।
 वह कृपा ऐसी किया करता है कितनी ही सदा ।
 लाभ जिससे हैं उठाते सैकड़ों जन सर्वदा ॥ ८ ॥

जिस अँधेरे को नहीं करता कभी सूरज शमन ।
 उस अँधेरे को सदा करता है वह पल में दमन ।
 भूल करके भी किसीका है जहाँ जाना न मन ।
 वह बिना आयास के करता वहाँ भी है गमन ।

देवतों के ध्यान में भी जो नहीं आता कभी ।
उस खेलाड़ी के लिए हस्तामलक है वह सभी ॥ ९ ॥

जगमगाती गगन-मण्डल की विविध तारावली ।
फूल फल सब रङ्ग के सब भाँति की सुन्दर कली ।
सब तरह के पेड़ उनकी पत्तियाँ साँचे-ढली ।
अति अनूठे रङ्ग की चिड़ियाँ प्रकृति-हाथों पली ।
आँख वाले के हृदय में है बिठा देती यही ।
इन अनूठे विश्व-चित्रों का चितेरा है वही ॥ १० ॥

जिसने देखा है अरोरा बोरिएलिस^१ का समा^२ ।
रङ्ग जिसकी आँख में है मेघमाला का जमा ।
जो समझ ले व्यूह तारों का अधर में है थमा ।
जो लखे सब कुछ लिये है घूमती सिगरी छमा^३ ।
कुछ लगाता है वही करतूत का उसका पता ।
भाव कुछ उसके गुणों का है वही सकता बता ॥ ११ ॥

१ The Aurora Borealis. ध्रुव प्रदेशों में रात्रि के समय सूर्य का सा प्राकृतिक प्रकाश । सूर्य जब ध्रुव-देश-वासियों को अपने किरण-समूह द्वारा स्पर्श नहीं करता तब यह पूर्वोक्त प्राकृतिक प्रकाश उन्हें आलोक-दान कर ईश्वर की सर्व-नियन्ता और अद्भुत शक्ति प्रकट करता है ।

२ सौन्दर्य ।

३ पृथ्वी ।

है कहीं लाखों करोड़ों कोस में जल ही भरा ।
 है करोड़ों मील में फैली कहीं सूखी धरा ।
 है कहीं परबत जमाये दूर तक अपना परा ।
 देख पड़ता है कहीं मैदान कोसों तक हरा ।
 वह रही नदियाँ कहीं हैं गिर रहे भरने कहीं ।
 किस जगह उसकी हमें महिमा दिखाती है नहीं ॥ १२ ॥

जी लगाकर आँख की देखो क्रिया कौतुक-भरी ।
 इस कलंजे के बनावट की लखो जादूगरी ।
 देखकर भेजा विचारों फिर विमल बाजीगरी ।
 इस तरह सब देह की सोचो सरस कारीगरी ।
 फिर बता दो यह हमें संसार के मानव सकल ।
 इस जगत में है किसीकी तूलिका इतनी प्रबल ॥ १३ ॥

जब जनमने का नहीं था नाम भी हमने लिया ।
 दो घड़ा तैयार दूधों का तभी उमने किया ।
 आपदा टाली अनेकों बुद्धि बल विद्या दिया ।
 की भलाई की न जाने और भी कितनी क्रिया ।
 तीनपन है बीतता तब भी तनक चेते नहीं ।
 हम पतित ऐसे हैं उसका नाम तक लेते नहीं ॥ १४ ॥

हे प्रभो ! है भेद तेरा वेद भी पाता नहीं ।
 शेष, शिव, सनकादि को भी अन्त दिखलाता नहीं ।

क्या अजब है जो हमें गाने सुयश आता नहीं ।
व्योम-तल पर चींटियों का जी कभी जाता नहीं ।
मन मनाने के लिए जो कुछ ढिठाई की गई ।
कीजिए उसको क्षमा प्रभु बात तो अनुचित भई ॥ १५ ॥

—अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

ईश-प्रार्थना

मैं यद्यपि मतिमन्द शास्त्र को मर्म न जानौं ।
तदपि नाथ मैं तोहिं सृष्टि-कर्ता अनुमानौं ॥
यह असार संसार सत्य माया-वश भाषत ।
अन्तर्हित^१ है सकल वस्तु महाँ आप विराजत ॥ १ ॥

व्यापक ब्रह्म अनादि आप अज ईश अनामय ।
अप्रमेय^२ अविचिन्त्य सच्चिदानन्द सदाशय ॥
निज इच्छा अनुसार सुकृत हित सगुन रूप धरि ।
लै अनेक अवतार हरत अघ साधुत्राण करि ॥ २ ॥

सर्व-शक्ति-सम्पन्न रहहि जो सदा एकरस ।
उद्भव, पालन, प्रलय होत जिनकी इच्छा-वस ॥
जो घट घट महाँ व्यापि रह्यो ईश्वर अविनासी ।
करति जगत-उत्पत्ति प्रकृति जाकी बनि दासी ॥ ३ ॥

प्रथम रच्यो आकाश पवन तासों सिरजायो ।
 तासों अनल प्रचारि अनल सों जल प्रकटायो ॥
 जल सों पृथ्वी विरचि सकल संसार सृष्टि कै ।
 त्रिगुणमयी यह प्रकृति सबनि पै रहत दृष्टि कै ॥ ४ ॥

त्रिगुण सत्व-रज-तमो-मिलित ये पञ्चभूत हैं ।
 बुद्धि अहङ्कृति चित्त मनहु के सङ्ग त्रिगुण हैं ।
 गगन, पवन, जल, अनल, भूमि इन पाँच तत्त्व सों ।
 शब्द, परस, रस, रूप, गन्ध प्रकट्यो गुणत्व सों ॥ ५ ॥

ज्ञानेन्द्रिय पुनि पञ्च भये इनके सहकारो ।
 आँख, कान, त्वक्, नाक, जीह निज निज गुणधारी ।
 कर्मेन्द्रिय पुनि पाँच तत्त्व ही के गुन जाये ।
 प्राणादिक त्यों ईश विरचि बिग्रह^१ निर्माये ॥ ६ ॥

दै पुनि जीवन-शक्ति जीव को कियो सचेतन ॥
 निज लीला-वश ताहि कियो पुनि कर्मनिकेतन ॥
 विरचे अगनित लोक कहाँ लौं ताहि गिनाऊँ ।
 जब अपनी यहि अल्प देह को पार न पाऊँ ॥ ७ ॥

देखि चराचर चमत्कार चहुँ ओर विलक्षण ।
 अनुभव करि तुव शक्ति होत चित चकित प्रतिक्षण ॥

जलचर थलचर आदि जीव जग जिते निहारे ।
अद्भुत शक्ति प्रमाण लसै प्रत्यक्ष तिहारे ॥ ८ ॥

चहचहाय चहुँ ओर पक्षिगण महिमा तेरी ।
बरनत हैं दिनरैन चैन चित पाय घनेरी ॥
पशु यद्यपि अज्ञान तदपि वह शान्त भाव सों ।
लहत निरन्तर विपिन-बीच सुख तुव प्रभाव सों ॥ ९ ॥

केते अणु-परिमाण जीव नहिं देत लखाई ।
चलत फिरत हैं सोउ धन्य तेरी प्रभुताई ॥
कितने हैं गिरिकल्प-काय जल-थल के वासी ।
जो तुव गरिमा की प्रतीति उपजावत खासी ॥ १० ॥

सबकी तू सुधि लेत धन्य तेरी महिमा है ।
सबपै राखत दीठि सबहिं सब भाँति निवाहै ॥
जब देखूँ तरु-लता आदि की अविरल शोभा ।
तब तुव गुन पै रीझि जात मिटि मन को छोभा ॥ ११ ॥

—जनार्दन झा ।

ईश-गुण-गान

गुणगान करने को तुम्हारे हे दयासागर हरे !
प्रस्तुत हुए हैं आज हम यह लेखनी कर में धरे ।
साहस हमारा किन्तु यह निष्फल निरा है सर्वथा,
है व्योम छूने हेतु वामन का उठाना कर यथा ॥ १ ॥

पर देखकर कौतुकमयी रचना अखिल संसार की,
 होती दशा जो जो हमारे क्षुद्र हृदयागार की ।
 उसके प्रकाशन-हेतु हमसे धृष्टता जो हो रही,
 है हेतु उसका प्रभु ! तुम्हारी प्रेरणा मन को यही ॥ २ ॥

वर्णन करें किस भाँति हम हे ईश ! तव लीला महा,
 वाणी न सकती देख, जाता है न आँखों से कहा ।
 जिस द्रव्य को हैं देखते पाते उसे अचरज-भरा ।
 सर्वेश ! तव कारीगरी से है भरी सारी धरा ॥ ३ ॥

काली घटा में घोर गर्जन-युक्त बिजली की छटा ।
 जल-उपल-वर्षण नियम से, सुरचाप शोभित अटपटा ॥
 ग्रह, चन्द्र, तारे, सूर्य,—इनकी मोहिनी शोभा बड़ी ।
 है हे प्रभो ! सबमें तुम्हारी शक्ति नैसर्गिक जड़ी ॥ ४ ॥

करते हुए 'भर भर' मधुर रव भर रहे भरने कहीं,
 द्रुम-विटप-शाखा चूमती तटिनी कहीं हैं बह रहीं,
 कल्लोल-मय सागर कहीं, स्थिर कमल विकसित सर कहीं,
 किस वस्तु में आभा तुम्हारी ईश ! है छिटकी नहीं ॥ ५ ॥

शोभित जहाँ कुसुमावली से कलित कोमल कुञ्ज हैं,
 मधु-गन्ध से मद अन्ध हो अलि-पुञ्ज करते गुञ्ज हैं ।
 है मृदुल बहती वायु सुरभित, कर रहे द्विज^१ गान हैं,
 महिमा दिखाते क्या न तव, ऐसे सुभग उद्यान हैं ॥ ६ ॥

राई-सदृशलघु बीज में बर सा भरा है तरु बड़ा,
 पृथ्वी तथा ग्रहराशि ले है शून्य में सूरज खड़ा ।
 है नीर-निधियों की तली 'में अग्नि का आकर' गड़ा,
 देखें जिधर हम हरि ! तुम्हारा विभव हैं पाते अड़ा ॥ ७ ॥

होता रचित तव लेश इच्छा मात्र से संसार है ,
 फिर फेरते ही दृष्टि तव हरि सृष्टि का संहार है ।
 संसार यह जल थल अनल नभ वायु ही का मेल है ॥
 यह बल बिना ईश्वर ! तुम्हारे क्या किसीका खेल है ॥ ८ ॥

हैं बोलते फिरते जिसे हम देखते होते खड़ा,
 मिलता वही पल में हमें है हाय ! भूतल पर पड़ा ।
 आती कहाँ से वस्तु वह, जो अहो इतनी श्रेष्ठ है ?
 जिसके बिना यह देह जाती हो निपट निश्चेष्ट है ॥ ९ ॥

कहते यही सब लोग हैं, यह दुःखमय संसार है,
 सहना हजारों कष्ट पर रहना यहाँ दिन चार है ।
 पर धन्य है माया तुम्हारी फाँस आशा-जाल में,
 उनको कराती है निरत नित इस जगत-जञ्जाल में ॥ १० ॥

है प्राणियों की गति तुम्हारी अटल इच्छा से धिरी,
 हम हैं तुम्हारे हाथ में हरि ! काठ की पुतली निरी ।
 जैसे नचाते हो हमें, हम नाचते वैसे सदा,
 सुख से कभी हैं फूलते, रोते कभी लख आपदा ॥ ११ ॥

संसार भर के जीव जलचर व्योमचर थलचर सभी,
 हम लाख वर्षों में न जिनकी कर सकें गणना कभी ।
 प्रत्येक के पोषण-भरण की चित्त में चिन्ता किये,
 प्रतिदिन उसे देते उचित भोजन जिसे जो चाहिये ॥ १२ ॥
 भक्ति, प्रणय, करुणा, अहिंसा, योग-बल अभिराम को,
 कर जात, करते विमल तुम हरि ! भक्त-जन-हृद्धाम को ।
 सञ्चार कर फिर ज्ञानरूपी अनल उनके गात्र में,
 उद्धार करते हो उन्हें जग-जाल से क्षणमात्र में ॥ १३ ॥
 करते विभो ! जिसपर दया की वृष्टि तुम अणुमात्र हो,
 आश्चर्य अति, वह भी कभी जो दुःख का फिर पात्र हो ।
 है पतितपावन नाम तव हरि ! विदित इस संसार में,
 हा कष्ट ! जो सड़ जायँ पड़ जन पतित पातक-धार में ॥ १४ ॥
 —लोचनप्रसाद ।

ज्ञानारुणोदय*

विघन-विनासनहार ! अघन घन हेत प्रभञ्जन ? ।
 परम रुचिर करि चरित, हृदय विचरत जनरञ्जन ॥
 लीला अगम अपार, सकल वस्तुन महुँ दरसत ।
 व्यापि रह्यो सब माँहिं, याहि ते सोभा सरसत ॥ १ ॥

तुमहीं सुमन सुगन्ध बाटिका तुमहीं माली ।
 तुमहीं तरुवर सुफल तुमहिँ डाली हरियाली ॥
 तुमहीं सन्ध्या दिवस निसा अरु तिनके कारन ।
 तुमहीं राजत तेज तिमिर तुमहीं जगधारन ॥ २ ॥

दृष्टि जहाँ लगि जाइ, तहाँ लगि चरित तिहारो ।
 आन जगत यह काह, जौन यह नैन निहारो ॥
 तुम परिवर्तन विश्व केर, छन छन प्रति करहू ।
 अस प्रभुता, तउ निज जन पै ममता अति धरहू ॥ ३ ॥

“तव सरनागत नाथ !” वचन आरत उच्चारत ।
 परवर्तित जग माँहिं आज सेवक पग धारत ॥
 तव चिन्तन मन माँहि तिहारो सुजस वचन वर ।
 तुम्हरी सेवा माँहि, करम मेरो रह तत्पर ॥ ४ ॥

* यह पद्य “छत्तीसगढ़-मित्र” से उद्धृत किया गया है ।

१ वायु, पवन ।

मोह-निसा तें जागि, दृष्टि डारी जिहि ओरा ।
 सब सुखमा के बीच चरित दरसत प्रभु तोरा ॥
 निसा-बिगत नियरान अजहुँ तम दस दिसि छाये ।
 निरखिय प्राची ओर कछुक परकास लखाये ॥ ५ ॥

अघी^१ हृदय तव भजन, लेस सोइ परत दिखाई ।
 कै माया घन बीच ईस आभा दरसाई ॥
 महा मोह के अन्धकार हरि, ज्ञान प्रकासत ।
 नाथ-नाम-परभात भगत-हिय-कमल विकासत ॥ ६ ॥

अरुनोदय लखि निकट, सकल तारे पियराने ।
 जिमि अघ-पुञ्ज नसात तिहारे पद नियराने ॥
 बोलत नाहिँ विहङ्ग सन्त-गान हरि-गुन गावत ।
 डोलत नाहिँ समीर, सुजस सौरभ फैलावत ॥ ७ ॥

तजि नभचर निज भवन चुगन हित लागे विचरन ।
 गेही जिमि गृह-त्यागि, ज्ञान-हित सेवत हरिजन ॥
 तुम्हरे तेज अपार सिन्धु कै अनु दरभावत ।
 विजय करत लै किरन प्राचि दिसि तैं रवि आवत ॥ ८ ॥

हरियाली पै सूर्य-किरन इमि फैलि दिखावत ।
 हरि-रङ्गन जिन रंगे, ज्ञान अनइच्छित पावत ॥

पतियन बीच मरीचि, कहूँ कहूँ प्रकटि दमाँकत ।
जग छवि निरखन हेत भरोखन ते जनु भाँकत ॥ ६ ॥

धाये मधुकर-वृन्द सरोवर कञ्जनि फूले ।
विषय सुलभ लखि ओछे त्यागिन के मन भूले ॥
चटकहिं कलिन गुलाब केरि अटकहिँ मन मेरो ।
ताल देत जनु सुमन, गान सुनि पिकजन केरो ॥ १० ॥

कबहुँ कबहुँ चवै परत ओसकन तरुवर पातन ।
मनहुँ प्रेम को आँसु स्रवै तव गुन सुनि हरि जन ॥
लता तरुन महुँ लपटि नवीन सुमन दिखरावत ।
तुअ पद नेह लगाइ मनहुँ मन वाञ्छित पावत ॥ ११ ॥

चम्पक कंतौ फुलै परम सुन्दर सरूप धरि ।
तऊन एकौ मधुप ताहि नियरात नेह करि ॥
जनु सन्तत छवि अमित विरचि माया दिखराई ।
तबहुँ न हरि के सुमति जनन को सकल लुभाई ॥ १२ ॥

देखि उदय परभात वनस्पति सींचत माली ।
पुष्ट करत मन, जनु गुरु शिक्षा देइ निराली ॥
कण्टक सकल बराइ, कोउ पुष्पनि चुनि लेहीं ।
मानहुँ तुम्हरे परम सेवकन सिखवन देहीं ॥ १३ ॥

जो परमारथ जगत माँहि सो लेहु बराई ।
तजहु अपार असार जाल कण्टक समुदाई ॥

तो तुम इनकी भौंति सदा चढ़िहौ सुर-सीसन ।
 रहहु प्रफुल्लित , प्रेम-मगन जग भूलहु ईस न ॥ १४ ॥
 या जग जीवन द्वैक दिवस सन्तत नहिँ रहौ ।
 काल अतिहिँ विकराल विवस अन्तहु मुरभैहौ ॥
 बनि परमारथमाल तजहु परहित तन मन धन ।
 स्वारथ हूँ इमि सरै करौ हरि चिन्तन छन छन ॥ १५ ॥

—रामदास गौड़ “रस” ।

जम्बूद्वीप-प्रशंसा

भुवि मधि जम्बूद्वीप दीप सम अति छवि छाये ।
 तामें भारतखण्ड मनहु विधि आप बनाये ॥
 ताहू में अति रम्य आरजावर्त मनोहर ।
 सकल कर्म की भूमि धर्मरत जहँ के नखर ॥
 मनु बालमीक व्यासादि से पूजनीय जहँ के अमित ।
 भे मनुज अबौ जग के सवै मानत जिनकी आन नित ॥ १ ॥
 जहँ हरि लिये अवतार रामकृष्णादि रूप धरि ।
 जहँ विक्रम बलि भोज धरम नृप गे कीरति करि ॥
 जहँ की विद्या पाय भये जग के नर सिद्धित ।
 जहँ के दाता सदा करत पूरन मन-इच्छित ॥

जहँ गङ्गा सी पावन नदी हिम सो ऊँचो शैलवर ।

जहँ रत्न-खानि अगनित लसत मानहुँ मनिमय सकल धर ॥२॥

—ठाकुर जगन्मोहनसिंह ।

भारत-वन्दना

सोहत अति रमणीय राज भारत भुवि माहीं ।

लखि जहँ के बल, विभव, धर्म, इन्द्रहुँ सकुचार्हीं ॥

कर्म-भूमि शुचि भक्ति-मुक्ति-विद्यामृत सिञ्चित ।

जहँ के कवि बलवन्त सन्त दानी जग-वन्दित ॥

जहँ श्रीहरि धरि अवतार दश धरम-धुजा थाप्यो विमल ।

सुर-दुर्लभ जहँ के रतन धन, गङ्ग सलिल शुचि फूल-फल ॥१॥

जहँ बहु सरिता-सरित तुङ्ग गिरि-गुहा सुहावत ।

जिन पै खग मृग भीर नीर तृन लहि सुख पावत ॥

जहँ विहरत अलि-पुञ्ज गुञ्जरत फूलन फूलन ।

डोलत सारस हंस आदि खग सर-नद-कूलन ॥

जहँ लता कुञ्ज कुञ्जन कलित कूजत कोयल मारगन ।

मैना कपोत हारीत शुक जहँ इत-उत फिरि हरत मन ॥२॥

जहँ इकदिशि अति उच्च अचल गिरि सुपमा गुनियत ।

इकदिशि चञ्चल अगम उदधि को गर्जन सुनियत ॥

तम बालुका-पूर्ण एक दिशि मरु-भू लखियत ।
 इकदिशि सजल प्रदेश सलिल मीठो शुचि चखियत ॥
 इकदिशि जीवन-संग्राम-थल कोलाहल दुख भ्रान्तिमय ।
 इकदिशि सोहन मोहत हृदय पुण्य तपोवन शान्तिमय ॥३॥

अति उपजाऊ भूमि सरस सब ठौर सुहावन ।
 बहु विधि जहँ नित हरित शस्य लहरत मन-भावन ॥
 नामत त्रिविध समीर पीर प्रानिन हरसावन ।
 क्रम क्रम ऋतु छै भाँति छटा नित नव दरसावन ॥
 जो प्रकृति देवि को केलि-घर, बरदा का जो है निलय ।
 है लक्ष्मी का आकर जहाँ, सो भारत जय जयति जय ॥४॥

—लोचनप्रसाद ।

मातृ-वन्दना*

जय जय सुधि निरत लेवि ,
 अमल मकल जगत सेवि ,
 भारत-भुवि जननि देवि ,
 जन उधारिणी ॥ १ ॥

सुन्दर सुखप्रद सुहात ,
 जात-रूप रूप जान ,

*“स्वदेश-बान्धव” से ।

देखि दुरत हू दुरात ,
दरिद-दारिणी ॥ २ ॥

तीस कोटि जयति गुञ्ज ,
मङ्गल-मय रूप-पुञ्ज ,
बिहरत जग-उर-निकुञ्ज ,
कान्ति-कारिणी ॥ ३ ॥

दरसत आमोद कन्द ,
सरसत सुखमा अमन्द ,
बरसत नित रस अनन्द ,
कष्ट-टारिणी ॥ ४ ॥

दमनि सोग-रोग-भीर ,
शमनि प्रबल पाप पीर .
रमनि जनति धीर वीर ,
जय-पसारिणी ॥ ५ ॥

नित धरि उज्ज्वल प्रकाश ,
दीपन तव दुति उजास ,
करि विनोद को विकास ,
हृदय-हारिणी ॥ ६ ॥

सजल सफल सरल अम्ब ,
सदय-हृदय बिन विलम्ब ,

जप तप धरमावलम्ब ,
ब्रह्मचारिणी ॥ ७ ॥

पट ऋतु वर विमल पाय ,
शस्य-श्यामला सुहाय ,
लहरत नित जगमगाय ,
दुख-विदारिणी ॥ ८ ॥

मलयज मञ्जुल अंताल ,
पवन क्रोड़ लै अमोल ,
करि करि क्रीड़ा-कलोल ,
रुज-प्रहारिणी ॥ ९ ॥

रविकर सज्जित मँवारि ,
चिर तुषार क्रीट धारि ,
विलसति मन्ताप-हारि .
बुधि-सुधारिणी ॥ १० ॥

अमरन कर सदा सरनि ,
निरखत हिय मोद भरनि ,
तारा त्रय ताप हरनि ,
तरणि-तारिणी ॥ ११ ॥

विदित सुभग श्रुति पुरान ,
सुर नर मुनि धरत ध्यान ,

पद पद प्राकृतिक प्रान—

पूर्ति-पारिणी ॥ १२ ॥

भञ्जन कलि-कलुष-मूल ,

गञ्जनि भव-व्याधि शूल ,

रञ्जनि जनमन सफूल ,

शोक-वारिणी ॥ १३ ॥

वीरोचित रखन मान ,

मेढति खल दल निसान ,

कोमल कर लै कृपान ,

रिपु-सँहारिणी ॥ १४ ॥

करुणामयि विगतछद्म ,

वसुधा मधि सुधासद्म ,

आरज थल अमर पद्म—

धूरि-धारिणी ॥ १५ ॥

मधुर मधुर मुसिकिरात ,

हरष हीय ना समात ,

टपकत प्रेमाश्रु जात ,

भय-निवारिणी ॥ १६ ॥

नय मारग मुदित गवनि ,

शोभा-सुख-सिद्धि-सवनि ,

श्री-पति-अवतार अवनि ,
श्रुति-विचारिणी ॥ १७ ॥

दयादृष्टि हेरि हेरि ,
कमले कर-कञ्ज फेरि ,
काटहु सब विपति बेरि ,
शुभ-प्रचारिणी ॥ १८ ॥

विद्या वर विनय ऐनि ,
ललित मृदुल मधुर बैनि ।
सत्य देवि ज्ञानदैनि ,
काज-सारिणी ॥ १९ ॥

मात लई सरण तोर ,
करि के इत कृपा-केर ।
हरति ताप क्यों न मोर ,
हिय-विहारिणी ॥ २० ॥

—सत्यनारायण शर्मा ।

प्रभु-विनय

प्रभु ! रक्षा करो हमारी ।
हम हैं सब शरण तुम्हारी ॥
अति गाढ़ मोह तम नाशौ ।
उर विद्या सूर्य्य प्रकाशौ ॥
सुखदायक मार्ग दिखाओ ।
दुष्कृति से हमें बचाओ ॥
धन, धैर्य्य, प्रतिष्ठा दीजै ।
शुभ गति अधिकारी कीजै ॥
हमसे सब जन सुख पावैं ।
कोइ दुःख न हमें दिखावैं ॥
हैं जितने मित्र हमारे ।
हो भक्त अनन्य तुम्हारे ॥
यह द्विज प्रतापनारायण ।
होवै तब प्रम-परायण ॥

—प्रतापनारायण मिश्र ।

दीन-निहोरा

दया दयामय नाथ ! सदा है अमित तुम्हारी ,
जो तुमने सुधि कभी दीन की नहीं बिसारी ।
कौतुक जग में करै तुम्हारी करुणा नाना ,
धन, प्रभुता, बल, बुद्धि व्यर्थ है निरा बहाना ॥ १ ॥

जो कौड़ी का दुखी दीन रो रो तरसै है ,
महमा कञ्चन-मेह उसीके घर बरसै है ।
मरनहार जो फँसा कठिन रोगों के दल में ,
जीव-दान तुम नाथ ! उसे देते हो पल में ॥ २ ॥

खुलै ठौर की कड़ी शीत में जो मरता है ,
दिव्य धाम में वही वास सुख से करता है ।
आश-हीन की आश नाथ ! तुम ही हो जग में ,
बिछ जाते हैं फूल दीन के कंटक-मग में ॥ ३ ॥

बालक बिन धन-भरा महल है जिनका सूना ,
मातों सुख के सहज बने हैं वही नमूना ।
नहीं नेक भी सहा कभी है कोप तुम्हारा ,
संसारी बल इसे सके क्या रोक बिचारा ॥ ४ ॥

रहता है शुभ नाम तुम्हारा मुख पर दुख में ,
हाय ! उसे हम अधम भूल जाते हैं सुख में ।

(५७)

तौ भी करुणा नहीं रावरी कम होती है ,
अन्तर्यामी-दृष्टि जगत पर सम होती है ॥ ५ ॥

मदमाता जग भला दीन-दुख क्या पहचाने ,
दीन-बन्धु बिन कौन दीन के हिय की जाने ।
होता जो न अधार शोक में नाथ ! तुम्हारा ;
निराधार यह जीव भटकता फिरता मारा ॥ ६ ॥

कभी कभी हैं काज तुम्हारे यदपि अनोखे ,
तो भी उनसे लाभ सृष्टि पाती है चोखे ।
जन्म, मरण, दुख, हर्ष नियम का सहकर बन्धन ,
करते हैं आदेश तुम्हारा निशि-दिन पालन ॥ ७ ॥

—कामताप्रसाद गुरु

भारत-महिमा

(१)

यह भारत भूतल-भूषण है ,
यह पुण्य-प्रभा-मय पूषण है ।
सुख-शान्ति-सुकर्म-सुधाकर है ,
सुषमा-शुचि-सद्गुण-आकर है ॥

(५८)

(२)

सजला सफला यह दिव्य-धरा ,
पहने तृण का मृदु चीर हरा ।
बहु शस्यमयी बन-बाग लिये ,
भरती नहिँ क्या अनुराग हिये ॥

(३)

यह है अपनी जननी सुखदा ,
हरती सुत-वृन्द-व्यथा-विपदा ।
शुचि अन्न दही घृत दुग्ध यहाँ ,
करते न किसे कब मुग्ध यहाँ ॥

(४)

मलयाचल-सेवित-वायु यहाँ ,
जिससे सब लोग चिरायु यहाँ ।
रवि-जन्हु-सुता-जल मिष्ट यहाँ ,
मिटते जिससे रुज-रिष्ट यहाँ ॥

(५)

यह शान्त-तपोवन-पावन है ,
मन-भावन शोक-नसावन है ।
यह है वह सौख्य-प्रदा वसुधा ,
बहती जिसमें शुचि-मुक्ति-सुधा ॥

(५९)

(६)

वर वन्य-वनस्पतियाँ इसमें ,
अमृतोपम ओषधियाँ इसमें ।
बहु धातुमयी खणियाँ इसमें ,
बहु-मूल्य महा-मणियाँ इसमें ॥

(७)

करतीं नदियाँ जल-दान इसे ,
गिरि हैं करते फल-दान इसे ।
नित प्राप्य सभी विधि फूल इसे ,
न अलभ्य सुधोपम-मूल इसे ॥

(८)

श्रम-शक्ति-विभूषित संयम है ,
न सुयोग्यता में मद का भ्रम है ।
बल में पर-पीड़न है न जरा ,
गत-दूषण है यह पुण्य-धरा ॥

(९)

कवि-काव्य-कला-कल कीर्ति-कथा ,
प्रकृति-प्रियता , प्रण, प्रीति-प्रथा ।
सब भाँति अलौकिक है इसकी ;
जग-बीज प्रभा इतनी किसकी ?

(६०)

(१०)

प्रभु-तुल्य प्रजा नृप को भजती ,
नृप के हित सर्वस है तजती !
तज दें स्व-प्रिया—इतनी क्षमता !
पर भूप तजें न प्रजा-ममता !!

(११)

कल-नाद-सुधा-मय वेणु यहाँ ,
रुजहारिणी पावन-रेणु यहाँ ।
अति रम्य निसर्ग यहाँ छवि है ,
लख मुग्ध जिसे मन में कवि है ॥

(१२)

झरने झरते हरते मन हैं ,
सुख से चरते मृग गो-गन हैं ।
खग बोल मनोहर बोल रहे ,
तरु-पत्र अहा ! मृदु डोल रहे ॥

(१३)

मन मोहती है ऋतु-वर्ग-छटा ,
बिजली वरषा घन-नाद-घटा ।
वन वाग तड़ाग सुशुभ्र बने ,
विकसे सर में वर-पद्म घने ॥

(६१)

(१४)

वर-वीरता में यह अद्भुत है ,
रण-धीरता में यह अद्भुत है ।
गुरु है यह आदि महीतल का ,
रण-कौशल का, कल का, बल का ॥

(१५)

वरदा करती नित वास यहाँ ,
करती शुचि-शक्ति-निवास यहाँ ।
कमला अचला बन के रहती ,
सुख-शान्ति यहाँ नित है बहती ॥

(१६)

सुख-मूल उशीर-सुगन्धि-सनी ,
क्षिति शोभित काञ्चन रेणु-वनी ।
शुचि-सौरभ-पूर्ण सुवर्ण जहाँ—
वसुधा पर है वह देश कहाँ ?

(१७)

सुख है शुचि सन्तत लभ्य सभी ,
वर वस्तु जिसे न अलभ्य कभी ।
यह प्राप्त किसे महिमा वर है ?
वस, “भारत को” यह उत्तर है ॥

—लोचनप्रसाद ।

प्रभु-प्रार्थना*

जय जय जय जगदीश ! दीन जन के रखवारे ।
 जय जय करुणा-सिन्धु ! परम प्रिय पिता हमारे ॥
 जय अनाथ के नाथ ! हाथ गहि राखन हारे ।
 जय निर्धन के धन निर्वल के बल अति प्यारे ॥
 जय जयति सुदर्शन-चक्रधर सकल भक्त-भव-भय-हरण ।
 जय दीनदयाल दयानिधे, रमारमण, अशरण-शरण ॥ १ ॥

तव महिमा, हे महामहिम ! नहिं जाय बखानी ।
 मेस सारदा आदि थके, सुर मुनि ऋषि ज्ञानी ॥
 'नेति नेति' कह वेद, भेद कछु जात न जान्यो ।
 अगम, अगोचर, अजर, अकथ, सब विधि सों मान्यो ॥
 हम मतिमन्द गवाँर तदपि दुःसाहस करके ।
 कहन चहत कछु अहा ! चपल रमना यह फरके ॥ २ ॥

ज्यों नृप, कीरति-कुशल-वन्दि-जन के आछत नित ।
 अर्थहीन, बेमेल, कीर-रव मुनत मुदित चित ॥
 वेदविदित ! गन्धर्व-गेय ! त्यों विनय हमारी ।
 यह निहचै जिय माहिं, लागि है तुम कहँ प्यारी ॥
 तोसों दयानिधान ! बात निज जिय की भाखैं ।
 जदपि तिहारे जोग पास कछु पूँजि न राखैं ॥ ३ ॥

* “सुदर्शन” से ।

यह मुख, कब यहि जोग, लेइ जो नाम तिहारो ।
 हाड़ मांस कफ चाम आदि को बन्यो पिटारो ॥
 पर-निन्दा को धाम अहो, का कहें जुबानी ?
 यह रसना रस-हीन, कुवच-विष सेां लपटानी ॥
 महा अपावन बदन कहाँ तव नाम पवित्तर ।
 अति रमनीक, सुचारु सुधा-सम सुखद प्रीतिकर ॥ ४ ॥

हव्य कव्य के हेतु धृष्ट कूकर ज्यों दौरत ।
 तुव गुण वर्णन काज चित्त नेमन कहँ टोरत ॥
 यद्यपि यह धृष्टता महा जो करत क्रूर मन ।
 तदपि आपुनी ओर हेरियो क्षमानिकेतन ॥
 जो हमारि करतूत ओर हरि ! नेक निहारो ।
 तो पुनि छन भर होय न कहूँ निरवाह हमारो ॥ ५ ॥

अन्तर्यामी आप सकल जानत हो चित की ।
 तव करुणा-बल बिना बात एकहुँ नहिं हित की ॥
 रोगग्रस्त तन दरिद गेह मन अतिशय चञ्चल ।
 धन नाते तव नाम काम सब करहिँ अमंगल ॥
 पै तुम करत सँभार नित्त हम सरिस अधिन की ।
 पूरत मन की आस त्रास मेटत प्रति दिन की ॥ ६ ॥

निज दासन की करनिन कहँ देख्योहु न चाहत ।
 बाँह गहे की लाज नाथ इक सदा निबाहत ॥

(६४)

‘छमाशील’ तब नाम सुन्यां हमने है जब ते ॥
निडर भये, सँसार माँहि, डोलत हैं तब ते ॥
तुम सो स्वामी पाय, मूढ़ जो औरन ध्यावें ।
कल्पवृत्त को त्यागि, बबूरन पोखि लगावें ॥ ७ ॥

—साधवप्रसाद मिश्र ।

ईश-स्तवन

(१)

तू ही पूर्ण प्रधान, पुरुष अन्तर्यामी है ।
करुणा-कृपा-निधान, विश्व का तू स्वामी है ॥
अमित-ओज-आगार, ईश तू विश्वम्भर है ।
अखिल-विश्व-आधार, सकल-सुख का तू घर है ॥

(२)

सबका तू मिरताज, जलज-युत निर्मल-सर है ।
दीन-हीन की लाज, सभी कुछ तेरे कर है ॥
आशहीन की आश, दीन का तू ही धन है ।
सिद्ध-जनों का खास, एक तू ही साधन है ॥

(३)

तुझपर मारा भार, जगत का प्रभुवर ! थित है ।
होता बारम्बार, न तुझसे किसका हित है ॥

(६५)

सब सुख का तू साज, सहायक तू केवल है ।
चलता सारा काज, जगत का तेरे बल है ॥

(४)

देख अलौकिक कार, ईश ! तेरे त्रिभुवन में ।
सुभग-स्नेह सञ्चार न होता किसके मन में ?
प्रभु ! तेरे व्यवहार, विश्व में सब अद्भुत हैं ।
सरल, स्नेह, सुविचार, शीलता-संयम-युत हैं ॥

(५)

विकल व्यथित परिवार, हीन जो नर अतिशय है,
सारा यह संसार, जिसे अति कष्टकमय है;
जीवन जिसका भार-रूप, दुर्गम, दुस्तर है,
तुझे छोड़ आधार, कौन उसका प्रभुवर ! है ॥

(६)

निराधार, धनहीन, दीन, दुर्दिन का मारा,
बान्धव-बन्धु-विहीन, विकल, विह्वल बेचारा;
आशाहीन, अनाथ, अमित जो दुख सहता है,
उस अधीर का हाथ, ईश ! तू ही गहता है ॥

(७)

तन यह निस्सन्देह, अधम ने व्यर्थ गवाँया ,
जिसने तुझसे नेह, सुहृद्वर ! नहीं लगाया ॥

(६६)

है उसका निःसार, जगत में नाम कमाना ।
व्यर्थ विलास-विहार, वृथा धन-धाम-खज़ाना ॥

(८)

प्रभुवर ! तेरी जहाँ, दया की दृष्टि पड़ी है,
सकल सम्पदा वहाँ, निरन्तर द्वार खड़ी है ॥
बिना कृपा की केर, रावरी प्राणी सारे,
निराधार चहुँ ओर, फिरेंगे मारे मारे ॥

(९)

तेरी भक्ति अपार, ईश ! रहती है जिनमें,
उनके हृदय-विकार, छार होते हैं छिन में ॥
काम हृदय में धाम, न उनके कर सकता है ।
उनकी सुमति न दाम, कभी भी हर सकता है ॥

(१०)

मन उनका सुविचार-पूर्ण, निर्मल निश्चल है ।
सरल-सत्य-व्यवहार, सर्वदा उनका बल है ॥
माया-मत्सर-मोह, कपट के दास नहीं हैं ।
मन में उनके द्रोह-कपट का वास नहीं है ॥

(११)

तुझ-मा स्वामी पाय, न जिसने ध्यान लगाया,
कलह-विवाद विहाय, न मन से द्वेष हटाया

(६७)

छोड़ सुमति का साथ, लीन है जो दुर्गति में,
क्यों न पड़ेगा नाथ ! दुष्ट वह दुख-दुर्गति में ॥

(१२)

तेरा विभव-प्रसार प्रभो ! अति ही विस्तृत है ।
सारा यह संसार, एक तेरा ही कृत है ॥
साध्य नहीं अतएव, सकल तेरा गुण गाना ।
दुष्कर है, तव देव ! विभव-विस्तार बताना ॥

—रामदयालु तिवारी ।

ईश-वन्दना

[१]

हे कारुणीक ! करुणामय ! दीनबन्धो !
प्रातर्नमामि तव पाद दयैकसिन्धो !
हैं कै प्रसन्न बिनती मम कान कीजै ।
जो मैं चहूँ सुरुचि ते वह मोहि दीजै ॥

[२]

जैसी दया तुम करी ध्रुव बाल पै है ।
वैसी दया करन की अब बारि या है ॥
नीरोग औ सुदृढ़ मोर शरीर कीजै ।
विद्या-विनोद महुँ नेह सुगाढ़ दीजै ॥

(६८)

[३]

देशानुराग अरु बान्धव-प्रेम मेरे ।

हृद्देश से नहिं हटै बिधि केहु प्रेरे ॥

देशोपकारक लखाहिँ बिधान जेतें ।

राजैँ सदैव भम मानस माहिँ तेते ॥

[४]

बाणिज्य औ कृषि बढ़ावनहार बातें ।

जो जो जहाँ मिलि सकें उनका वहाँ तें ॥

लै लै प्रचार करिबे कहँ मोहिँ दीजै ।

सामर्थ्य, नाथ ! विनती यह कान कीजै ॥

[५]

वाष्पीय यन्त्र अरु विद्युत-शक्ति द्वारा ।

पाश्चात्य बन्धु करहीं निज देश केरा ॥

लाकोपकार, जिमि, स्वारथ नेह रीते ।

मैं हूँ करौँ तिमि सदा निज बाहु-वृत्ते ॥

[६]

जो जो धनाढ्य जन भारत के निवासी ।

सो सो समाजन रचैँ तजि के उदासी ।

बाणिज्य, शिल्प, कृषि को नित ही बढ़ावै ।

राजा, प्रजा सबन के मन मोद पावै ॥

(६९)

[७]

हे हे दयाघन ! विभो ! जन दुःखहारी ।

ज्यों थी सुनी तुम प्रभो ! गज की पुकारी ॥

त्यों धाय नाथ ! मम ढेर सुनो कृपाल ।

औ शीघ्र ही भरत-भूमि करौ निहाल ॥

[८]

न्यायी, सुखी, अरु पराक्रम बुद्धि वारे ।

कर्त्तव्य-कर्म-रत सज्जन शील धारे ॥

आबाल-वृद्ध-नर-नागर ग्रामवासी ।

होवैं गुणी सकल ये मम देशवासी ॥

—गङ्गाप्रसाद खन्निहोत्री ।

जय हिन्दुस्तान

१—जय विद्या-बल-बुद्धि-निधान ,
जन्म-भूमि गुण-गौरव-खान ।
शान्ति-सौख्य का वासस्थान ,
जय जय पावन हिन्दुस्तान ॥

२—सब सुख-साधन-पूर्ण महान ,
तू है जग में स्वर्ग-समान ।

तुझमें जन्म ग्रहण के काज,
लालायित हैं देव-समाज ॥

३—तेरा रुजहारी जल-वायु,
वर्धित करता है जन-आयु ।
तेरे अन्न शाक घृत दुग्ध,
किसके प्राण न करते मुग्ध ॥

४—हैं तेरे विद्या-विज्ञान,
भव-दुख-छेदन-हेतु कृपाण ।
तेरे स्वर्ण, रत्न, मणि, धान,
हरते हैं कुबेर का मान ॥

५—शोभित तव सिर मुकुट-समान,
पूज्य हिमालय ओपधि-खान ।
पार्श्व देश में शोभित रम्य,
ब्रह्मपुत्र, नद सिन्धु अगम्य ॥

६—रत्नाकर नित करता नाद,
चुम्बन करता है तव पाद ।
कटि में तेरे पावन नाम,
शोभित विन्ध्याचल छविधाम ॥

७—गङ्गा, यमुना आदि अनेक,
नदियाँ सुभग एक से एक ।

प्रक्षालन करती तब अङ्ग ,
दिखा रही हैं लहर उमङ्ग ॥

८—कालिदास, भवभूति समान ,
कविवर तुझमें हुए महान ।
भीमार्जुन गाङ्गेय समान ,
रथी हुए तुझमें बलवान ॥

९—कर्ण सदृश दानी विख्यात ,
भारत ! किया तुझी ने जात !
हरिश्चन्द्र से सत्यप्रतिज्ञ ,
जात हुए तुझमें ही विज्ञ ॥

१०—पाणिनि, शङ्कर, मनु, प्रह्लाद ,
जैमिनि, गौतम, कपिल कणाद ।
व्यास, आदि-कवि^१ विमलचरित्र ,
सबकी है तू भूमि पवित्र ॥

११—सुख-स्वतन्त्रता की तू भूमि ,
धर्म-धीरता , की तू भूमि ।
जग में तू है स्वर्ग समान ,
जय जय पावन हिन्दुस्तान ॥

—लोचनप्रसाद ।

अभ्यर्थना

जो विश्व में हरि ! हमें नर-जन्म दीजे,
तो ज्ञान-हीन हमको न कदापि कीजे ।
दें जो दयामय ! दया कर आप शक्ति,
संसार का हित करें हम तो सभक्ति ॥१॥

सत्कर्म में मति सदैव रहे हमारी,
सद्धर्म में मति सदैव रहे हमारी ।
मन्मार्ग में गति सदैव रहे हमारी,
सर्वेश में रति सदैव रहे हमारी ॥२॥

दुर्नीति में न हमको करिये प्रवृत्त ,
दुर्वृत्ति से हर घड़ी रखिए निवृत्त ।
दीजे भले तनिक भी हमको न वित्त,
पै दीजिए प्रभु ! अतीव उदार चित्त ॥३॥

कर्तव्य को हम हरे ! सब काल पालें,
विश्वेश के नियम को न कदापि टालें ।
चाहें सदैव हम कष्ट अनेक पावें,
पै पाप और निज हाथ नहीं बढावें ॥४॥

हो एक भी न सुख प्राप्त हमें भले ही,
हो सर्वदैव दुख प्राप्त हमें भले ही ।

अन्याय में रत नहीं हम किन्तु होवे ,
संसार में हम नहीं विष-बीज बोवे ॥५॥

उद्योग से न जग में कुछ भी अलभ्य,
उद्योग-हीन नर को सुख है न लभ्य ।
उद्योग के गुण कहाँ तक नाथ ! गावे ,
उद्योग-शील नित आप हमें बनावे ॥६॥

ईर्ष्या कभी हृदय में यदि ठौर पाती,
तो पाप-ओर नर को वह है झुकाती ।
उत्कर्ष से हम जलें न कभी किसीके,
हों सौख्य से मुदित नाथ ! सभी किसीके ॥७॥

प्यारा हमें सतत है निज स्वत्व जैसा,
है दूसरे मनुज का सब भाँति वैसा ।
भूलें नहीं हम हरे ! यह मुख्य तत्व,
छीनें कभी हम किसी नर का न स्वत्व ॥८॥

हैं माँगते हम नहीं प्रभु ! सौख्य-लेश,
हो प्राप्त आत्मबल किन्तु हमें विशेष ।
चाहे रहें हम किसी स्थिति में सदैव,
सन्मार्ग में दृढ़ रहें हम सर्वदैव ॥९॥

—गोपालशरणसिंह ।

भक्त की अभिलाषा

(१)

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ—
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ ।
तू है महानद-तुल्य तो मैं एक बूँद-समान हूँ—
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥

(२)

तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ—
तू है अगर दक्षिण-पवन तो कुसुम की मैं धूल हूँ ।
तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूँ—
तू है पिता तो पुत्र मैं तब अङ्क में आसीन हूँ ॥

(३)

तू अगर सर्वाधार है तो एक मैं आश्रय हूँ—
आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रय या अश्रय हूँ ।
तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ—
तुझको नहीं मैं भूलता हूँ, दूर हूँ या पाम हूँ ॥

(४)

तू है पतित-पावन प्रकट तो मैं पतित मशहूर हूँ—
छल से तुझे यदि है घृणा तो मैं कपट से दूर हूँ ।

(७५)

है भक्ति की यदि भूख तुझको तो मुझे तव भक्ति है—
अति प्रीति है तेरे पदों में, प्रेम है, आसक्ति है ॥

(५)

तू है दया का सिन्धु तो मैं भी दया का पात्र हूँ—
करुणेश तू है, चाहता मैं नाथ ! करुणा मात्र हूँ ।
तू दीन-बन्धु प्रसिद्ध है मैं दीन से भी दीन हूँ—
तू नाथ ! नाथ अनाथ का, असहाय मैं प्रभु-हीन हूँ ॥

(६)

तव चरण अशरण-शरण हैं, मुझको शरण की चाह है—
तू शीत-कर है दग्ध को, मेरे हृदय में दाह है ।
तू है शरद-राका-शशी मम चित्त चारु चकोर है—
तव ओर तजकर देखता यह और की अब ओर है ॥

(७)

हृदयेश ! अब तेरे लिये है हृदय व्याकुल हो रहा—
आ आ ! इधर आ ! शीघ्र आ ! यह शोर-यह गुल हो रहा ।
यह चित्त-चातक है तृषित, कर शान्त करुणा-वारि से
घनश्याम ! तेरी रट लगी आठों पहर है अब इसे ॥

(८)

तू जानता मन की दशा रखता न तुझसे बीच हूँ—
जो कुछ कि हूँ तेरा किया हूँ उच्च हूँ या नीच हूँ ।

अपना मुझे अपना समझ तपना न अब मुझको पड़े—
तजकर तुझे यह दास जाकर द्वार पर किसके अड़े ॥

(९)

तू है दिवाकर तो कमल मैं, जलद तू मैं मोर हूँ—
सब भावनाएँ छोड़कर अब कर रहा यह शोर हूँ—
मुझमें समा जा इस तरह तन प्राण का जो तौर है—
जिसमें न फिर कोई कहे मैं और हूँ तू और है ॥
—गयाप्रसाद शुक्ल “सनेही” ।

विनय*

विकसित कर तू मेरा अन्तर हे परमेश्वर अन्तरतर हे !
उज्ज्वल कर तू, निर्मल कर तू उसे कर्म में तत्पर कर हे !
निर्भय कर निःसंशय कर तू सदयहृदय हो करणाकर हे !
प्रेमास्पद तव पद-कमलों में मेरे मन को मधुकर कर हे !
युक्त उसे कर विश्व संग में, मुक्त उसे कर पावनतर हे !
उसे उदार उदात्त बना तू विशालतामय विश्वम्भर हे !
तव चरणों में निस्पन्दित कर मेरा चित्त मदा प्रभुवर हे !
नन्दित कर तू नन्दित कर तू हृदय पुण्यमय सुन्दरतर हे !

* महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक गीत का अवलम्बन लेकर
लिखित ।

प्लावित कर मानस यह मेरा प्रेमानन्द सुधासागर हे !
पूर्ण प्रेम-प्रतिमा हो जीवन अहो सत्य हे शिव सुन्दर हे !
—लोचनप्रसाद ।

साध*

मेरा प्रतिपल सुन्दर हो
प्रति दिन सुन्दर सुखकर हो
यह पल पल का लघु जीवन
सुन्दर, सुखकर शुचितर हो ।

× × × ×

हां बूँदें अगणित लघुतर
सागर में बूँदें सागर ।
यह एक बूँद जीवन का
मोती-सा सरस सुधर हो ॥
मधु के ही कुसुम मनोहर
कुसुमों की ही मधु प्रियतर ।
यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित मधुमय हो ॥

× × × ×

* “माधुरी से” ।

मेरा प्रति दिन निर्भय हो

निःसंशय, मंगलमय हो ।

यह नव नव पल का जीवन

प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो ॥

—सुमित्रानन्दन 'पन्त' ।

उपचार

कहाँ बुलाऊँ नाथ, तुम्हें ? इस पर्णकुटी में ?

क्या आदर दूँ—बस बिठलाऊँ भाव-भवन में ?

हृदय-पद्म के मधुर पराग,

चित्त-पट के सुललित अनुराग,

नयनों के मेरे अञ्जन,

मेरे स्मृति-पथ के खञ्जन,

पाऊँ कहाँ अधर रँगने का पान, कहाँ चन्दन पाऊँ ?

रँगें प्रेम-रँग में हो तुम तो, सुरभित हो श्रद्धा-साने ।

अकिंचन घर के इस कंचन,

कंचनों के कुल के संचन ।

अङ्ग-अङ्ग के मेरे स्पंदन,

पग-पग के मेरे अभिनन्दन ।

मिलने की इच्छा है प्रभुवर ! पर मिलता उपचार नहीं—
मुझको यही भरोसा है बस, इसका तुम्हें विचार नहीं ।

दुख के, दुर्दिन के, सुविलास,
करुण क्रन्दन के निद्रित हास ,
भग्न आशाओं के आकाश,
निराशा के अंतिम अभिलाप !

—श्रीरामाज्ञा द्विवेदी :

श्रीकृष्ण-विनय

१—नाविक ! अपनी इस नौका के
शिथिल किये क्यों हैं पतवार ?
प्रेम हाथ, क्या शाप बनेगा,
छोड़ोगे हमको मगधार ?
कुरुक्षेत्र साक्षी है, माधव !
आदर्शों पर देकर प्राण ।
विजयी रथ पथ पर हों, देखा,
सत्य-साधना का सम्मान ॥

२—आर्य-राष्ट्र-अभिनय के नायक,
गीता-गायक लीलाकार !

मुरली की ध्वनि से प्रस्फुट की
 पाञ्च-जन्य-ध्वनि वीराधार ॥
 ब्रज-क्रीड़ा को कुम्हने में
 प्रेम वीर-रस में कर लीन ।
 द्वापर में रच दिव्य द्वारका,
 फूँ की नित नव-जीवन-बीन ॥

३—यह यमुना-तट, यह वंशी-वट,
 यह वृन्दावन, यही तरंग ।
 यही धमे है, यही आर्य हैं,
 यही प्राण-प्रिय श्यामल रंग ।
 यहीं चराईं गौँ तुमने,
 गो-सेवा की है गोपाल !
 यहीं सारथी बने पार्थ के,
 फूँ का गीता-मंत्र विशाल ॥

४—आधी रात अधेरी छायो,
 मेघों की गर्जन गम्भीर ।
 दग्ध-हृदय-सी विद्युत-ज्वाला,
 जलती थी चहुँओर अधीर ॥
 आशा की जब ज्योति बुझी थी,
 गिरी यवनिका, भूतल अन्य ।
 ब्रती देवकी की गोदी में,
 तब आये तुम जीवन-धन्य ॥

५—थकी प्रतीक्षा मधुसूदन ! अब,
जन्मोत्सव जाता प्रति वर्ष ।
सदियों बीतीं किन्तु बना है,
अब भी स्वप्न वही उत्कर्ष !
माता यमुना का जल पीकर,
रमा पूज्य वृन्दावन-धूल ।
दीन-हीन भारत रटता है,
कृष्ण नाम नित जीवन-मूल ॥

६—भूलो, किन्तु न भूलेंगे हम,
कंस-विदारक नाम पवित्र ।
रोम-राम में लिखा हमारे,
कृष्णचन्द्र का विमल चरित्र ॥
आआ, मोहन ! एक बार फिर,
मन्त्र फूँक दो, विषम-वियोग ।
यहाँ हुआ था, हांगा फिर भी,
नर-नारायण का संयोग ॥

—श्यामाकान्त पाठक :

गङ्गा की शोभा

नव उज्जल जलधार हार हीरक सी सोहति ।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति ॥
लोल^१ लहर लहि पवन एक पैँ इक इमि आवत ।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥

सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सबके मन भावत ।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत ॥
श्रीहरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस ।
ब्रह्म कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुर-सरवस ॥

शिव मिरि मालति माल भगीरथ नृपति पुण्य फल ।
पेरावत गजगिरि पवि हिम मन कण्ठहार कल^२ ॥
सगर-सुवन सठ सहस परस जल मात्र उधारन ।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन ॥

कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यों जग धाई ।
सपने हूँ नहिं तजी रही अंकम लपटाई ॥
कहूँ वधे नव-घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी कहूँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत जोहत ॥

घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
मधुरी नौबत बजत कहूँ नारी नर गावत ।
वेद पढ़त कहूँ द्विज कहूँ जोगी ध्यान लगावत ॥

कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत ।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत ॥
धोवत सुन्दरि वदन करन अतिही छवि पावत ।
वारिधि नाने ससि-कलंक मनु कमल मिटावत ॥

सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत ।
कमल बेलि लहलही नवल कुसुमन मन मोहत ॥
दीठि जहीं जहूँ जात रहत तितहीं ठहराई ।
गङ्गा-छवि हरिचन्द्र कछू बरनी नहिँ जाई ॥

—हरिचन्द्र ।

हिमालय

भारत का गिरिदेव अचल श्रीमन्त रत्न-भण्डार महान ।
समाविस्थ हो बैठा है मानो करता भगवत-गुण-गान ॥
हरे हरे तह खेत मनोहर काले शिखर अनूप ।
उज्ज्वल भरने भील दूर से दीखें आसन-रूप ॥

गौर शरीर, जटा मस्तक पर लखिये सोहे हैं घनश्याम ।
 गङ्ग-धार उपवीत शुभ्र अति, काँधे पर राजै अभिराम ॥
 कहैं मांदयुत पथिक देखकर शिव-सम रूप विशाल ।
 नमोस्तु ते गौरी-शङ्कर प्रभु ! रक्तक हिन्द कृपाल ॥

—लोचनप्रसाद ।

हिमालय

उत्तर दिशि नगराज अटल छवि सहित विराजत ,
 लसत स्वेत मिर मुकुट, भलक हिम सोभा भ्राजत ।
 वदन देस सविसेम, कनक आभा आभामत ,
 अश्रोभाग की स्याम वरन छवि हृदय हुलामत ॥

स्वेत पीत मँग स्याम धार अनुगत सम अन्तर ,
 सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग, प्रतिभास निगन्तर ।
 विलसत सो तिहुँ काल त्रिविध सुठि रेख अनूपम ,
 भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुंड्र सम ॥

उज्ज्वल ऊँचे सिखर दूर देसन लों चमकत ,
 परत भानु नव किरन प्रात सुवरन सम दमकत ।
 लता पुहुप बनराजि, सदा ऋतुराज सुहावत ,
 हरी-भरी डहडही वृच्छ-माला मन भावत ॥

कोकिल कीर कदम्ब, अम्ब चढ़ि गान सुनावत ,
 स्यामा चारु सुगीत मधुर सुर पुनि पुनि गावत ।
 कहूँ हारीत कपोत कहूँ मैना लखि परियत ,
 कहूँ कहूँ खेचर वर चकोर के दरसन करियत ॥

देवदार की डार कहूँ लंगूर हिलावत ,
 कहूँ मर्कट को कटक वेग सों तरु तरु धावत ।
 विकसित नित नव कुसुम तरुन तरु मुकुलित बौरत ,
 अलबेले अलिवृन्द कलिन के ढिग ढिग भौरत ॥

भरना जहँ तहँ भरत करत कल छर छर जलरव ,
 पियत जीव सो अम्बु, अमृत उपमा हिम सम्भव ।
 पवन सीत अति सुखद, बुझावत बहु विधि तापा ,
 बादर दरसत, परसत, बरसत, आपहि आपा !

गङ्गा गौमुख स्रवत, कहै को सोभा ताकी ,
 बरनै जन्मस्थली, वह कि अथवा यमुना की ॥
 सतलज व्यास चिनाव प्रभृति पंजाव पंच जल ,
 सरजू आदि अनेकन नदियन कौ निसरन थल ।

पृष्ठ भाग रमनीक, रुचिर राजत रावन-हृद ,
 ग्रहन करत निज देह, सिन्धु अरु ब्रह्मपुत्र नद ॥
 हरिद्वार केदार बदरिकाश्रम की शोभा ,
 लखि ऐसौ को मनुज जासु मन कबहुँ न लोभा ?

पुनि देखिय कशमीर देस नैपाल तराई ,
 सिकम और भूटान राज्य आसाम लगाई ॥
 दच्छिन भुज अफगान राज मस्तक सों भेटत ।
 वाम बाहु सों वरमा के कच-भार समेटत ॥

ज्यों समर्थ बलवान सुभावहि सों उदार मन ।
 देत अभय वरदान मानयुत निज आश्रित गन ॥
 आर्यावर्त्त पुनीत ललकि हिय भरि आलिंगत ।
 गङ्गा यमुना अश्रु प्रेम प्रगटत हृदयंगत ॥

रुरे रुरे गाम अधिक अन्तर सों सोहत ।
 रूपवती, पर्वती, सती, जुवती मन मोहत ॥
 अगनित पर्वत खंड चहूँ दिसि देत दिखाई ।
 सिर परसत आकाश, चरन पाताल छुआई ॥

सोहत सुन्दर खेत प त तरऊबर छाई ।
 मानहुँ बिधि पट हरित स्वर्ग सोपान बिछाई ॥
 गहरे गहरे गर्त, खड्ड दीरघ गहराई ।
 शब्द करतहीं घोर प्रतिध्वनि देय सुनाई ॥

तहाँ निपट निशंक, वन्य पशु सुख सों बिचरत
 करत केलि-कल्लोल, मुदित आनन्दित विहरत ।
 कहुँ ईधन कौ ढेर सिद्ध-आबास जनावत ,
 कहुँ समाधिस्थित जागी की गुहा सुहावत ॥

विविध विलच्छन दृश्य, सृष्टि सुखमा सुख मंडल ।

नन्दन वन अनुरूप भूमि अभिनय रंगस्थल ॥

प्रकृति परम चातुर्य, अनूपम अचरज आलय ।

श्रीधर दृग छकि रहत अटल छवि निरखि हिमालय ॥

—श्रीधर पाठक ।

दिल्ली-दरबार-दृश्य*

बचा भूप को आज है देश माहीं ।

सजे सैन जो है इहाँ आय नाहीं ॥

धनी औ गुनी देश के जौन मानी ।

सबै हैं जुरे राजधानी पुरानी ॥

सबै शक्ति के बाहरै साज साजे ।

परैं जानि माधारणौ लोग राजे ॥

सबै देस औ दीप के लोग आये ।

न जाने परैं आपने औ पराये ॥

चले हाथियों के जबै भुण्ड कारे ।

मनौ मेघ-माला धरा आज धारे ॥

*“भारत-बधाई” से ।

जुरी लच्छ सेनासिधारा^१ चमकैं ।
 सु ज्यों बीजुरी बीच वाके दमकैं ॥
 सवै सूर मामन्त धारे उमंगैं ।
 कलापीन के से नचावैं तुरंगैं ॥

सजे ज्यत हैं बे-प्रमान आज आये ।
 मनौ मेदिनी स्याम ही सस्य छाये ॥
 छुटैं तोप की बाढ़ कै सोर भारी ।
 गरजैं मनौ मेघ आकाशचारी ॥

उड़ी धूरि धूआँ मिली व्योम जाई ।
 दिनै पावसी जामिनी मी बनाई ॥
 अलङ्कार भूपाल के रत्न-राजो ।
 चमकैं लखैं जोगिनी जाति लाजी ॥

बढ़े वन्दि बानी विरहैं उचारैं ।
 सु जीमूत की ज्यों पपीहे पुकारैं ॥
 कई लच्छ की भीर भारी भई है ।
 धरा धन्य या भार का जो लई है ॥

❀ ❀ ❀ ❀

मिँची चारु बीथी नई ही नई हैं ।
 बनी फूलवारी कहूँ पै कई हैं ॥

खिले फूल हैं ढेर के ढेर सोहे ।
 भ्रमैं भौर भूले जहाँ चित्त मोहे ॥
 कहूँ पै हरी दूब हैं खूब सोही ।
 कहूँ कुञ्ज छाजे मनै लेत मोही ॥
 कहूँ कुण्ड के बीच छूटैं फुहारे ।
 बने धाम केते प्रभा धौल धारे ॥

ठौर क्रीडनादि के बने अनेक हैं कहूँ ।
 विश्व वस्तु सो भरी लगी सुहाट हैं कहूँ ॥
 नीर-बाहिनी नलै सु ठौर ठौर हैं बनी ।
 दीप दामिनी प्रभा सु आसपास हैं घनी ॥
 तार, डाक, औपधालयादि हैं बने कहूँ ।
 भाँति भाँति के अराम साज बाज हैं चहूँ ॥
 रेल ठौर ठौर दौरती छटा दिखावती ।
 जाति एक दूसरी तहीं तुरन्त आवती ॥
 है प्रदर्शिनी जहाँ खुली धरित्रि सारलों ।
 लाख वस्तु हैं तहाँ परी जु देखि ना कभौं ॥
 जासु साज बाज के बखान कौन कै सकै ।
 विश्वमोहिनी प्रभा निहारि हारि ही रहै ॥
 लाखनै ध्वजा पताक वृन्द फरहरात हैं ।
 लाखनै प्रकार कौतुको जहाँ लखात हैं ॥

बाजने विचित्र भाँति भाँति के बजै तहाँ ।
 किन्नरौ लजात साज संग के सुने जहाँ ॥
 'बाल नाच' के बिलोकि अप्सरी भुलाति हैं ।
 राग रंग हाव भाव रूप सों लजाति हैं ॥
 देखि सुन्दरीन के विलास हास वेस के ।
 भूपनादि जासु खार दंत हैं धनेस के ॥
 अग्निक्रीड़नादि छूटि छूटि के विलायती ।
 व्याम बीच कै वसन्त बाटिका बनावती ॥
 अस्त्र शस्त्र भाँति भाँति के जहाँ चमकते ।
 छूटि अग्निबान वज्र-नाद से घमंकते ॥

(दोहा)

मिविर सकल भूपाल के , अलग अलग दरसाहि ।
 सकल देस-सोभा जहाँ , एकहि ठौर लग्वाहि ॥
 —बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ।

प्राचीन ग्राम्य-स्मृति*

कहाँ गये बहु गाँव मनोहर परम सुहाने ।
 सबके प्यारे परम शान्तिदायक मनमाने ॥

* “स्फुट कविता” से ।

कपट द्वेष क्रूरता पाप औ मद से निर्मल ।
सीधेसादे लोग बसें जिनमें नहिँ छल बल ॥

एक साथ बालिका और बालक जहँ मिलकर ।
खेला करते औ घर जाते साँझ पड़े पर ॥
पाप-भरे व्यवहार पाप-मिश्रित चतुर्गई ।
जिनके सपने में भी पास कभी नहिँ आई ॥

एक भाव से जाति छतीसों मिलकर रहतीं ।
एक दूसरे का दुखसुख मिल जुलकर सहतीं ॥
जहाँ न भूटा काम न भूठी मान बढ़ाई ।
रहती जिनके एकमात्र आधार सचाई ॥

सदा बड़ों की दया जहाँ छोटों के ऊपर ।
औ छोटों का काम भक्ति पर उनकी निर्भर ॥
मेल जहाँ सम्पत्ति प्रीति जिनका सच्चा धन ।
एकहि कुल की भौंति सदा बसते प्रसन्न मन ॥

पड़ता उनमें जब कोई भगड़ा उलभेड़ा ।
आपस में अपना कर लेते सब निबटेड़ा ॥
दिन दिन होती जिनकी सच्ची प्रीति सवाई ।
एक चिह्न भी उसका नहिँ देता दिखलाई ॥

—बालमुकुन्द गुप्त ।

ग्रामीण-विनोद*

विस्तृत छाया बीच मचावत बहु विधि लीला ।
चिन्ता को विसराय मुदित मन आनन्दशीला ॥

बाल युवा मिलि रहसि रहसि मण्डली बनावहिँ ।
बूढ़े तिनको निरखि निरखि अतिशय सुख पावहिँ ॥
खेलनहारे आपस में सब भगड़त जाहीं ।
एक दूसरे सों बढ़िबौ चाहें मन माहीं ॥

*

*

*

कूदत है कोई बाल लेत फिर कनिया कोई ।
कोई कोई नाचत हैं निरछे तन होई ॥
कोई फाँदन में दरसावत हैं चतुराई ।
कोई भूलत हैं डालिन आधार बनाई ॥
दीठ पराई बाँध दिखावत अचरज कोई ।
निरखत तिनकी ओर और सब विस्मित होई ॥
कोई अपनी देही के बल को दरसावत ।
फेंकत गोला पत्थर के अरु नाल उठावत ॥
कोई चढ़ि के पेड़न पै कछोल मचावत ।
मोर-चाल कोई चलत भुजन को बल परचावत ॥

* 'ऊजड़ ग्राम' से ।

मल्लयुद्ध मिलि करत कहूँ सम बल-वय-वारे ।

हार पावत बाढ़ बड़ाई जीतन हारे ॥

—श्रीधर पाठक ।

शम्भु की समाधि

१—जदपि भङ्ग नहिँ भई शम्भु की अचल समाधी ।

पै खरभर जग डारि मदन लज्जा गति बाधो ॥

थावर जङ्गम जीव सबै मद-अन्ध बनायो ।

असमय समय विचार असमसर^१ सकल छुड़ायो ॥

है अथल विथल नर नाग सुर नहिँ छाँड़त छिन तरुनि गन ।

तपसिहुजन सेलिन^२ तजि विकल, लगे नबेलिन दिसि भुक्न ॥

२—मुग्धा मध्या नारि कतहुँ नहिँ परहिँ लखाई ।

रतिप्रीता प्रौढ़हि मदन जग युवति बनाई ॥

तजि तजि गुन मरजाद लाज कुल विभव बड़ाई ।

कुल पतनिहुँ मद-अन्ध फिरै^३ कुलटन की नाई ॥

रतिनाथ कोप-वश भुवन तिहु सिन्धु सरित सीमा तर्यो ।

सो उवरि बच्यो ताहु समय ईश जासु रच्छा कर्यो ॥

३—त्रिभुवन में विकराल भयो अनरथ यह जैसा ।

तैसोई हरगणन कुलाहल कियो अनैसा^४ ॥

१ कामदेव । २ लकड़ी की एक आड़ जिसे हाथ में लेकर और उसके सहारे हाथों पर सिर रखकर योगी लोग ध्यानावस्थित होते हैं । उक्कल प्रान्तीय साधुगण इसे “आशा बाड़ी” कहते हैं । ३ खराब ।

भूत प्रेत गन कूदि कूदि करि करि अठखेली ।
 नाचत ह्वै उनमत्त बजावत मगन हथेली ॥
 हर-लता-भवन के द्वार तव कनक दरड कर में लिये ।
 नन्दी तरजनि मुख धरि, सवन “सावधान” इंगित किये ॥

४—कम्प-विहीन भये तरुवृन्द मजिन्दन चञ्चलता बिसराई ।
 मौन विहंगन धारि लियो तिमि फाल^१ कुरंगनहाल भुलाई ॥
 शासन सों हरबाहन के बन चित्र समान परै दरसाई ।
 साँझहि कानन बीच सुथम्भित तालन के प्रतिबिंब की नाई ॥

५—हैं बरावत^२ शुक्र, सम्मुख दीठि, यात्रन लोग ।
 त्यों बचाय पुरारि दीठि-प्रपात मार सयोग ॥
 पारिजात सुशाख बहुतक रहीं मिलि जिहि ठाम ।
 ध्यान थल त्रिपुरारि को तहँ गयो संकित काम ॥

६—काल-बस भूपकेतु देख्यो ध्यान-थित सुरराय ।
 लसत वेदी कल्पतरु पर सिंह चर्म दसाय ॥
 भुके कामल कन्ध, राजत वीर आसन मारि ।
 लसैं विक्रमित कञ्ज से जुग पानि गोद मँभारि ॥

७—जटाजूट उठाय बाँधे नाग गन सों तौन ।
 अञ्छ^३ माला कान में आसक्त^४ सुखमा भौन ॥

१ उछल उछलकर भागते हुए । २ बचाते हैं, यात्रा में लोग शुक्र
 का देखना बराते हैं । ३ रुद्राक्ष । ४ लटकती हुई ।

धरे ग्रंथित चारु श्याम-कुरंग चर्म ललाम ।

भयो जो अति नील, कंठ-प्रभानि सों तिहि याम ॥

८—उग्रे चख-पूतरि अचल, अति धरे स्वल्प प्रकास ।

नैन पट तिमि भृकुटि थिर अति सिथिल^१ अन्छ-विकास ॥

नमित मुख करि नासिका दिसि लखत प्रभु ईशान ।

योग आपुहि धारि तनु मनु तपत तेज निधान ॥

९—प्राण के अवलम्ब श्वासन रोकि हर सविधान ।

अचल, पावस-मेघ से प्रभु लसत अगम अमान ॥

किधौ रहित-तरंग-सरवर सरिस शिव भगवान ।

किधौ मारुत-हीन-थल पै अचल-दीप समान ॥

१०—कढ़त बाहर तृतीय चख मग जौन तेज अपार ।

सीस सों उतपन्न है, बन करत सुखमागार ॥

बाल-विधु श्री जो मृणालहु तार सों सुकुमारि ।

करत ता कहँ मन्द सो दिसि विदिस जोति पसारि ॥

११—इन्द्रियन अवरोधि, चित्त समाधि-बल बस लाय,

हृदय मैं तेहि थापि, देखत आत्मरूप अघाय ॥

इविधि चित्तहु दुराधर्प महेश को लखि तीर ।

खसत जान्यो करहु सोधनु सर न मार अधीर ॥

श्यामविहारी मिश्र

और

शुकदेवविहारो मिश्र ।

प्रकृति

झटा और ही भाँति की देखते हैं ।

जहाँ दृष्टि हैं डालते फेर के मुँह ॥

कहीं छन्द मनते, कहीं रेखते हैं ।

कहीं कोकिलों की मुरीली “कुहू कुहू” ॥१॥

कहीं आम बौरै, कहीं डालियों के ।

तले फूल आके गिरे बीच थाले ॥

गर्वे हैं मनो टोकरों मालियों के ।

इकट्ठे जहाँ भौर से भीर वाले ॥२॥

कहीं व्योम में साँझ की लालिमा है ।

कभी स्वच्छ है दृष्टि आकाश आता ॥

कभी रात्रि में मेघ की कालिमा है ।

कभी चाँदनी देख जी है लुभाता ॥३॥

कभी इन्द्र का चाप है सप्त-रङ्गी ।

जहाँ ज्योति के मङ्ग बूँदें घनी हैं ॥

कुसुम्भी, हरा, लाल, नीला, नरङ्गी ।

कहीं पीत शोभा कहीं बैँगनी है ॥४॥

कहीं हेल^१ सं जीव हैं दृष्टि आते ।

कहीं सूक्ष्म कीटादि की पंक्तियाँ हैं ॥

उन्हें देखकर चित्त हैं चित्त खाते ।

इन्हें देखने की नहीं शक्तियाँ हैं ॥ ५ ॥

कहीं पर्वतों से नदी बह रही हैं ।

कहीं वाटिका में बनी स्वच्छ नहरें ॥

कहीं प्राकृतिक कीर्ति को कह रही हैं ।

छटाशीश वारीश की बङ्क लहरें ॥ ६ ॥

कहीं पेड़ की पत्तियाँ हिल रही हैं ।

कहीं भूमि पर घास ही छा रही है ॥

सुगन्धें कहीं वायु में मिल रही हैं ।

कहीं सारिका प्रेम से गा रही हैं ॥ ७ ॥

कहीं पर्वतों की छटा है निराली ।

जहाँ वृक्ष के वृन्द छाये घने हैं ॥

लगी एक से एक प्रत्येक डाली ।

मनो पान्थ के हेतु तम्बू तने हैं ॥ ८ ॥

कहीं दौड़ते झाड़ियों बीच हरने ।

लिये मोद से शावकों को भगै हैं ॥

कहीं भूधरां से भरै रम्य भरने ।

अहा ! दृश्य कैसे अनूठे लगै हैं ॥ ९ ॥

कहीं खेत के खेत लहरा रहे हैं ।

महा मोद में हैं कृषीकार सारे ॥

उन्हें देखकर मूँछ फहरा रहे हैं ।

सदा घूमते काँध पै लट्ट धारे ॥१०॥

अनोखी कला सच्चिदानन्द की है ।

उसीकी सभी वस्तु में एक सत्ता ॥

अहो ! कौमुदी यह उसी चन्द की है ।

रचा है निन्होंने लता पेड़ पत्ता ॥११॥

जहाँ ध्यान देते हैं चारों दिशा में ।

पड़ै दीख संसार नियमानुसारै ॥

सदा चन्द आनन्ददाता निशा में ।

सदा सूर्य अपना उजेलो पसारै ॥१२॥

यथाकाल ही फूल भी फूलते हैं ।

फलों से लदे वृक्ष त्यों सोहते हैं ॥

नहीं कौन सौन्दर्य पर भूलते हैं ।

नहीं कौन के चित्त ये मोहते हैं ॥१३॥

अचम्भा सभी वस्तु संसार की है ।

वृथा दर्प विज्ञान भी ठानता है ॥

जगन्नाथ ने सृष्टि विस्तार की है ।

वही विश्व के मर्म को जानता है ॥१४॥

शान्तिमयी शय्या

मनोहारी शय्या परम सुथरी भूमि तल की,
सुहाती क्या ही है ललित बन के दूब दल से ।
नदी के कूलों की विमल वर इन्दुद्युति सम,
नई रेती से जो अति चमकती है निशिदिन ॥१॥

सुहाने वृक्षों की अति सघन पंक्ति प्रवर से,
लता प्यारी प्यारी लिपटत अनोखी तरह से ।
रंगीले फूलों की नवल वन-माला पहनके,
लुभाती है जी को पथिक जन के वे विपिन में ॥२॥

सुरीली वीणा सी सरस नदियाँ वादन करै,
कभी मीठी मीठी मधुर धुनि से गायन करै ।
सदा ही नाचै हैं भरित भरने नाच नवल,
निराली शोभा है विपिनवर की कौतुकमयी ॥३॥

कभी धीरे धीरे व्यजन करती मन्द गति से,
चली आती दौड़ी पवन मदमाती मलय की ।
कभी चित्ताकर्षी शिशिर-कणवर्षी विपिन में,
दिखाती है शोभा सुखद, मन लोभा न किसका ? ॥४॥

महाशोभा-शाली विपुल विमला चन्द्रकिरणें,
घने कुञ्जों में हैं सतत घुसके खेल करतीं ।

कभी हो जाती हैं सघन घन के ओट-पट में,
वियोगी योगी के हृदय हर्तीं तत्क्षण सदा ॥५॥

कभी आती निद्रा विमल परमानन्द पद की,
सुहानी शय्या में अतिशय सनी शान्ति-रस सी ।
कभी आँखों को है चकित करती प्राचि अबला,
दिखाती आती है अमल अरुणाई अधर की ॥६॥

छटा कैसी प्यारी प्रकृति तिय के चन्द्रमुख की,
नया नीला ओढ़े वसन चटकीला गगन का ।
जरी-सल्मा-रूपी जिसपर सितारे सब जड़े,
गले में स्वर्गङ्गा अति ललित माला-सम पड़ी ॥७॥

—सत्यशरण रतूड़ी ।

पल्ली-चित्र

ए प्रिय पल्लीग्राम ! शान्ति-शोभा-सुखसागर ।
तुअ गुन-रासि ललाम हृदय मम करत उजागर ॥
छोटे छोटे भवन स्वच्छ आँगन मन मोहत ।
मुथरे तृणमय मञ्जु ललित छप्पर शुचि सोहत ॥
गृह गृह विचरत हरत हृदय दम्पति भतिपावन ।
निज सन्तति परिवार सहित करि दूषन त्यागन ॥

पीपल इमली निम्ब अम्ब बेरादिक तरुगन ।

निज निज बाहु पसारि करत तुअ प्रेमालिङ्गन ॥

बहत सरित इक ओर चरण तुअ पुलकि पखारत ।

इक दिसि सुन्दर ताल धोइ मुख छवि परसारत ॥

रम्य पहाड़ी सुखद, मुकुट सम इक दिसि मोहत ।

निज छवि छटा पसारि दर्शकन को मन मोहत ॥

कहुँ मृदु पुष्प निकुञ्ज बाटिका सदृश सुहावत ।

मानहुँ तुअ गल माँहि सौरभित हार गुहावत ॥

चहुँ दिसि सुन्दर खेत विविध विधि सस्यांत्पादक ।

सोहत अति धन-कोष तुल्य तुअ परजन पालक ॥

कतहुँ तरुन पर काग कीर कोयल छवि छावत ।

बन्दीगन सम पुलकि सुजस तुअ नित मनु गावत ॥

कहुँ गोधन कहुँ महिष वृषभ विहरत सुख पावत ।

तुअ सुराज की दया अहिंसा सबहि जनावत ॥

चारिहुँ वर्ण सुछन्द रहत तजि छल मद मत्सर ।

कलह वैर बिसराय करत बहु प्रेम परस्पर ॥

शुचि, आडम्बर-शून्य ग्राम-जीवन सुख पूरन ।

दूषण-रहित विनोद सुभग क्रीड़ा सम्पूरन ॥

धन्य मनुज तुम जिनहि गोद महुँ अपनी धारत ।

तिनके उर महुँ विमल जोति सद्गुण कों वारत ॥

ए प्रिय पल्लीग्राम ! धन्य तुव नीति निकाई ।

गाई केहि विधि जाय, तिहारी विमल बड़ाई ॥

—लोचनप्रसाद ।

श्मशान का दृश्य ❀

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहुँ कोउ जाति बुझाई ।

एक लगाई जाति एक की राख बहाई ॥

विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति ।

कहुँ चरबी सां चटचटाति कहुँ दह दह दहकति ॥

कहुँ फूकन-हित धर्यो मृतक तुरतहिं तहँ आयो ।

कहुँ अंग अधजर्यो कहुँ कोऊ कर खायो ॥

कहुँ स्वान इक अस्थि-खण्ड लै चाटि चिचोरत ।

कहुँ कारी महि काक ठोर सां ठोकि ठठोरत ॥

कहुँ शृगाल कोउ मृतक अङ्ग पर ताक लगावत ।

कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत ॥

जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे ।

जित तित छटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे ॥

❀ “हरिश्चन्द्र” से ।

हरहरात इक-दिस पीपल को पेड़ पुरातन ।
 लटकत जामें घण्ट घने माटी के बासन ॥
 वर्षा ऋतु के काज और हूँ लगत भयानक ।
 सरिता बहत सवेग करारे गिरत अचानक ॥
 ररत कहूँ मण्डूक कहूँ भिल्ली भनकारै ।
 काक-मण्डली कहूँ अमंगल मंत्र उचारै ॥



भई आनि तब साँझ घटा आई घिरि कारी ।
 सनै सनै सब ओर लगी बाढ़न अँधियारी ॥
 भये इकट्ठा आनि तहाँ डाकिनि पिसाच-गन ।
 कूदत करत कलोल किलकि दौड़त तोड़त तन ॥
 आकृति अति बिकराल धरे क्वैला से कारे ।
 वक्र वदन लघु लाल नयनजुत जीभ निकारे ॥
 कोउ कड़ाकड़ हाड़ चाबि नाचत दै ताली ।
 कोऊ पीवत रुधिर खोपरी की करि प्याली ॥
 कोउ अँतड़ी की पहिरि माल इतराई दिखावत ।
 कोउ चरबी लै चोप सहित निज अंगनि लावत ॥
 कोउ मुँडनि लै मानि मोद कन्दुक लों डारत ।
 कोउ मुँडनि पै बैठि करेजो फारि निकारत ॥

मेघदूत (मार्ग-वर्णन)

(रामगिरि)

(दोहा)

१—माँगि सीख गिरि तुझ पै अब मीतहिं भरि अंक ।
पावन रघुपति चरन सेां अङ्कित जाका लङ्क ॥
जब जब तू यातें मिलत बहुत दिनन में आइ ।
प्रीति प्रगट तो में करत ताती भाफ उठाय ॥*

(कुंडलिया)

२—गैल बताऊँ मेघ अब जिहिं चलि पावै चैन ।
फिर सुनियो सन्देश मम कानन अति सुखदैन ॥
कानन अति सुखदैन थके वा मग में जब तू ।
चलियो धरि धरि पाँव शिखर ऊचिन पै तब तू ॥
भूख लगे सोता मिलें उथरें अरु विन मैल ।
पी तिनकौ पानी तुरत लीजां अपनी गैल ॥

३—जात तोहि ऊपर निरखि कहिहैं सीस उठाइ ।
मुग्धा सिद्धबधू चकित आपस में बतराइ ॥
आपस में बतराइ बड़ा अचरज कौ लेखौ ।
पवन उड़ाये जात खण्ड परवत कौ देखौ ॥

निचुल सरस यह भूमि तजि अब उत्तर चलि भ्रात !
मेढरत मद दिगिजन के नभ मारग में जात ॥

४—सोहत पूरब ओर यह रतनजाल अनुमान ।
निकसत बाँबी तें भलो इन्द्रचाप रुचदान ॥
इन्द्रचाप रुचदान जासु मिलि तो तन कारो ।
पावत है छवि अधिक लगत नैनन को प्यारो ॥
मोर चन्द्रिका संग सुभग जैसे मन मोहत ।
गोपवेष गोविन्द बहुत श्यामल तन सोहत ॥

मालक्षेत्र

५—करके दृग ऊँचे लखें भोरे भरे पियार ।
ग्रामवधू तुहि जानके खेती फल दातार ॥
खेती फल दातार पहुँचियो माल-भूमि वर ।
नए जुते जहँ खेत सुगन्धित होई अधिकतर ॥
कछु पश्चिम दिश पलटि शीघ्र गति तन में धरके ।
चलियो जलधर मीत फेर उत्तर मुख करके ॥

आम्रकूट

(सोरठा)

६—आम्रकूट तन ताप मेटी तैं बहुधा बरसि ।
सा धरिहै सिर आप तो मारग के थकित को ॥
मीतहिं आए द्वार विमुख होत नहिं नीचहूँ ।
सुमरि प्रथम उपकार ऊँच विमुख कब है सकै ॥

७—रह्यो चहूँदिशि छाड़ पके आम बनशैल वह ।
ता सिर जब तू जाइ बैठे चिक्कन चिकुर रँग ॥
तुरत कहे छवि सोइ जोग देवदम्पति लखन ।
मनहुँ श्यामता होइ गोरे भूमि-उरोज बिच ॥

८—थक्यो पन्थ चलि गात निकट रहे जब जाय तू ।
चित्रकूट विख्यात ऊँचे सिर तुहि धारि है ॥
करियो धारासार हरन तासु ग्रीपम अग्निनि ।
सज्जन सँग उपकार फलत विलम्ब न कछु करे ॥

रेवा (नर्मदा) नदी

९—विलमि तहाँ कछु बार विहरति जहँ वनचर बधू ।
करियो धारासार फिर द्रुतगति मग लौँघियो ॥
लखियो रेवा जाइ विन्ध्य शिलन पै यों बहे ।
मानहु दई रचाइ गजतन रजरेखा विशद ॥

(चौपाई)

१०—लै चलियो वा नदि के नीरा ।
जमुनी कुंजन रुकि भए धीरा ॥
बन हाथिन जिनमें मद त्यागे ।
अधिक सुगंधित तिहिं हित लागे ॥
अन्तर जब तेरौ भरि जाई ।
पवनहु रोकि न तोहि सकाई ॥

रीते सबहि तुच्छ जग माहीं ।
बिन पूरनता गौरव नाहीं ॥

११—देखि कदम्ब सुमन मन भाए ।
हरित स्याम मकरन्द सुहाए ॥
हलन माहिं निरखि कन्दलिका ।
नव कुसुमित बहु सुन्दर कलिका ॥
दावानल भसमित कानन में ।
भूमि सगन्ध सूँधि मुद मन में ॥
मोर जलद तुहि आदर दैहें ।
आगे उड़ि उड़ि पन्थ दिखैहें ॥

१२—सिद्ध निरखिहें तो सँग आवत ।
चातक वारिबूँद रट लावत ॥
बगपाँती इकलँग लखि लैहैं ।
गिनती कर कर तियन दिखैहैं ॥

×

×

×

दशार्ण देश

१३—पहुँचि दशारन जब तू जाई ।
कछु दिन हंस बसें तहँ भाई ॥
कलित केतकी जहँ मन मोहैं ।
उपवन सीम पाँण्डुरँग सोहैं ॥

(१०८)

नीड़ समय पंछी बहु आवैं ।
 *रक्खन माँहि कलोल मचावैं ॥
 श्याम वरण सुन्दर दुतिमन्ता ।
 जमुनी फल पकि भे बनअन्ता ॥

१४—विदिशा‡ नाम तहाँ रजधानी ।
 देश देश विख्यात बखानी ॥
 ता ढिंग पहुँच जबहि तू जैहै ।
 रस विलास को अति फल पैहै ॥
 बेत्रवती तट गरजत धीरा ।
 लीजो मधुर तरंगित नीरा ॥
 मनहुँ कुटिल भ्रकुटीयुत मुख तैं ।
 अधरामृत लीनो अति सुख तैं ॥

×

×

×

(सवैया)

१५—ठैर के नक तहाँ चलियां बरमावत नीर नई बुँदियान तैं ।
 सींचत नाग नदी तट बागन छाई चमेली रहीं कलियान तैं ॥
 दै छिन छाँहकौ दान सखा करियो पहचान तू मालिनियानतैं ।
 कान के फूल गए जिनके कुम्हलाइसे, पोंछत स्वेद मुखानतैं ॥

* ग्राम चैत्य ‡ वर्तमान् भिलसा ।

उज्जयिनी

१६—तो दिश उत्तर चालनहार के मारग कैतौहूँ फेर परं किन ।
वा उज्जयैनि के आछे अटा पर से बिन तू चलियो कितहूजिन
चंचल नैन वहाँ अबलान के बिज्जुछटा चकचोंधे करै छिन ।
जो न लख्यो उन नैनन तू हकनाहक देह धरेही फिरे गिन ॥

x

x

x

अवन्ती

१७—ख्यात है अवन्ती जहाँ केतेक निवास करें,
पण्डित जनग्या उद्दयन के ध्यान के ।
जाइके प्रवेश तहाँ कीजो वा विशाला बीच,
देख लीजो शोभासाज सकल जिहान के ।
भूमि तें गए जो नर देवलोक भोगिवे को,
करि करि काज बड़े धर्म औ प्रमान के ।
तेई फेरि आए संग सार भाग स्वर्ग लाए,
प्रबल प्रताप मनो शेष पुत्रदान के ॥
—(राजा) लक्ष्मणसिंह ।

बम्बई का समुद्र-तट

(सायङ्कालिक दृश्य)

सायङ्काल हवा समुद्र-तट की नैरोग्यकारी महा,
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नित ही आते इसीसे वहाँ ।
बैठे हास्य-विनोद-मोद करते सानन्द वे दो घड़ी,
सो शोभा उस दृश्य की हृदय को है तृप्ति देती बड़ी ॥ १ ॥

सन्ध्या का गिरतीं दिनेश-कर की नोकें ललाई सनी,
होती है तब दिव्य वारिनिधि की शोभा मनोमोहिनी ।
नीचे से जब बार बार उठती ऊँची तरङ्गावली,
आता है बढ़के सु-दूर फिर भी जाती वहाँ ही चली ॥ २ ॥

छोटे और बड़े जहाज जल में देखो वहाँ वे खड़े,
सा भी दृश्य विचित्र, किन्तु हमको वे हानिकारी बड़े ।
ले जाते वर-वस्तु देश भर की जानें कहाँ की कहाँ,
लाते केवल ऊपरी चटक की चीजें बिदेशी यहाँ ॥ ३ ॥

है उद्यान महा-मनोहर जहाँ विख्यात वृक्षावली ,
फूली है कुसुमावली नव-नवा सौरभ्य आती चली ।
बैठी स्वागत सी जाँ कर रही प्यारी विहङ्गावली ,
चित्ताकषेक खूब वारिनिधि की आनन्ददायी स्थली ॥ ४ ॥

आते हैं दिन के थके जन सदा सन्ध्या हुए पै यहीं ,
प्यारी मन्द-सुगन्ध-शीतल हवा अन्यत्र पाते नहीं ।

देके स्पर्श समीर खूब करती आतिथ्य-सेवा, तथा ,
खोती है श्रम सर्व और उनकी सारी मिटाती व्यथा ॥ ५ ॥

मैंमें मञ्जुल पारसीक नवला-नारी दिखाती अदा ,
आती हैं सब सभ्य भव्य महिला प्रायः सदा सर्वदा ।
वे स्वाधीन सभी, समाज निज से स्वातन्त्र्य पाई हुई ,
आतीं जो मरु-वासिनी वह कथा है सर्वथा ही नई ॥ ६ ॥

सभग-सदन-पंक्ति प्रान्त में हैं दिखाती ,
घर घर सुखमा को बाटिका है बढ़ाती ।
विकसित कुसुमाली खूब सर्वत्र छाई ,
सुरुचिर हरियाली मालियों की लगाई ॥ ७ ॥

मदकल-मतवाली जो वहाँ कामिनी हैं ,
अनुपम-छविवाली रूप-शाली बड़ी हैं ।
दृग-पथ करने से चित्त आती यही हैं ,
सुर-पुर-वनिता ही क्या यहाँ आ गई हैं ? ॥ ८ ॥

शोभा समुद्र-तट की अवलोकनीय ,
पाता प्रमोद मन देख उसे मदीय ।
याथार्थ वर्णन न हो सकता तदीय ,
है दृश्य केवल अहो ! वह दर्शनीय ॥ ९ ॥

—कन्हैयालाल पोद्दार ।

वर्षा ऋतु में ग्राम-दृश्य

मेघाच्छन्न अकास बहत मृदु पवन सुहावन ।
कबहुँ कबहुँ रवि-किरण-प्रभा सों दमकत नभ-घन ॥
हरित वणे भू मृदुल मनोहर चहुँ मन मोहत ।
पगडण्डिन की पाँति भाँति भाँतिन जहँ सोहत ॥

डाबर सरिता ताल नीरमय स्वच्छ मनोहर ।
लहरावत नव शालि खेत खेतन महुँ सुखकर ॥
चरत कतहुँ गो महिप वृषभ हय हिय हरसावत ।
गलघण्टिन-धुनि सुखद करन मन सुख सरसावत ॥

चरत जात पशु परत शब्द सुनि सर सर सुन्दर ।
तिहि के डर सों विपुल कीट-कुल भागत भर भर ॥
वगुला मैना काक ताक तिन उपर लगाये ।
करि ढोरन की ओट जात सुख सों तिन खाये ॥

चाटत कहुँ गो पुलकि दूध बत्सन को प्यावत ।
कतहुँ बैठि स्वच्छन्द ढोर सुख सों पगुरावत ॥
भरत चौकड़ी कतहुँ अश्व को बत्स सुहावन ।
आवत मा ढिग कबहुँ लगत पुनि दूर परावन ॥

कतहुँ भेड़ को भुण्ड भुण्ड नीचे करि धावत ।
एक चरत, सब चरत, एक लखि सबहिं परावत ॥

कहुँ बैठे स्वच्छन्द ग्वाल, मेंड़न के ऊपर ।

मुरली मधुर बजाय सुधा सींचत हृद-भू पर ॥

कतहुँ फावरे धरे कृषक कोउ मेंड़ बनावत ॥

कहुँ श्रम सों अति थके कृषक निज चिलम चढ़ावत ॥

कोउ विशेष जल देखि खेत खनि नीर निकारत ।

कीच सने तनु कतहुँ नीर सों कृषक पखारत ॥

काँधे काँबर लिये घास को कोउ गृह आवत ।

कोउ काटत कहुँ घास गीत प्रमुदित चित गावत ॥

करत कतहुँ शिशुवृन्द विविध क्रीड़ा सुख पावत ।

लरत काहु सों कोउ, कोउ किलकत, कोउ धावत ॥

करि करि तिरछे अंग कोउ पुलकित चित नाचत ।

कोउ कर सों निज पेट कोउ तालियाँ बजावत ॥

कहुँ सरला बालिका धूल को भवन बनावत ।

कहुँ फिरकनियाँ देत कोउ मृदु स्वर सों गावत ॥

निम्ब डार लहँसाइ पकरि तिहि को कोउ भूलत ।

काहू को कोउ हय बनाय तिहि पै चढ़ि फूलत ॥

कहुँ युवकन की मृदुल मण्डली जुरी सुहावन ।

करत कथा रस-रंग-संग छाई उमंग तन ॥

कहुँ पीपल के तरे बैठि ग्रामीण वृद्ध जन ।

कहत शिशुन ढिग ग्राम्य-कथा इतिहास पुरातन ॥

—लोचनप्रसाद ।

महानदी*

शीतल स्वच्छ नीर ले सुन्दर
बता, कहाँ से आती है ?
इस जल्दी में महानदी तू
कहाँ घूमने जाती है ?
कर्णप्रिय “कल कल” सुखदायी
गीत मनोहर गाती है ?
अपने तट के ग्राम्य जनों का
मानों चित्त चुराती है ?
उज्ज्वल तेरा रूप देखकर
मोद हुआ है मुझे बड़ा ।
नेत्रप्रिय सब दृश्य मनोहर
देख रहा हूँ खड़ा खड़ा ॥
छोटी छोटी भँवरे पड़ती
घूम घूम रह जाती हैं ।
घूम चूम मेरे पैरों को
लहरें प्रेम दिखाती हैं ॥
कभी उछलती मछली सुन्दर
कभी डूब भट जाती हैं ।

रौप्य धवल निज रूप दिखाकर
मानो गर्व दिखाती हैं ॥

विचरण करते चकवा चकई
तेरा स्वागत करते हैं ।
दम्पति-प्रेम-नेम की क्या ही
शिक्षा मन में भरते हैं ॥

चढ़े नाँव तव वृक्षस्थल में
धीवर मार रहे हैं मीन ।
बड़ी दया वाली तू उनको
करती कभी न उदर-विलीन ॥

तेरा विस्तृत विषम पाट है
चौड़ा भीलों से भारी ।
अहा किनारे बिछी बालु की
शीतल शय्या सुखकारी ॥

नित्य तटस्थित ग्राम्य जनों को
पान कराकर सुन्दर नीर ।
स्वस्थ सदा तू उनको रखती
हरके उनके सब दुख-पीर ॥

ग्रीष्म के अति भीषम तप से
सूख ताल जब जाते हैं ।

अन्य ग्रामवासी-गण तब तो
तब शरणागत आते हैं ॥

क्षीर-तुल्य जलपान प्राप्त कर
मनोवेदना खोते हैं ।

दौड़ दौड़कर बड़े मोद से
खूब लगाते गोते हैं ॥

करती है तू नित हम सबका
सभी प्रकार बड़ा उपकार ।

तेरे इस भारी ऋण से हम
कभी न हो सकते उद्धार ॥

नहीं शक्ति है हममें तेरे
दर्शाने की चरित विचित्र ।

करके स्नानमात्र ही तुझमें
हो जाते हैं लोग पवित्र ॥

शाम-सबेरे तेरे तट पर
जो जन नित्य विचरते हैं ।

शीतल युद्ध वायु-सेवन से
दिन भर का श्रम हरते हैं ॥

नृत्य दिखाती गान सुनाती
तू आगे को जाती है ।

बता कहाँ को जाती है तू
लौट नहीं क्यों आती है ॥

अनुपम तेरा रूप देखकर
नेत्र-प्राण भर जाते हैं ।
बतलाने को कविता-द्वारा
शब्द न मुझको आते हैं ॥

नगर पर्वतों को उजाड़ती
उग्र रूप धारण करके ।
बता बता तू कहाँ दौड़ती
मन में मोद अमित भरके ॥

लौट चलो तुम घर को प्यारी
मानो जी मेरा कहना ।
सोच समझ लो मन में अपने
तब फिर आगे को बहना ॥

कहना मेरा नहीं मानकर
जो तुम आगे जाओगी ।
सच कहता हूँ हे प्रिय तटिनी !
दुःख अमित तुम पाओगी ॥

अन्त काल जैसे पहुँचोगी
तुम सुन लो वारिधि के पास ।

(११८)

याद रखो बस हो जावेगा

भटपट वहीं तुम्हारा नाश ॥

मन का सब आनन्द भूलकर

हो जाओगी दुख का धाम ।

वहाँ नहीं लेगा हा ! कोई

“महानदी” यह तेरा नाम ॥

इससे मेरा कहना मानो,

जाओ लौट तुरत निज भौन ।

बड़े वेग से दौड़ रही हो

कहो कहो क्यों होकर मौन ॥

—पाण्डेय मुरलीधर शर्मा ।

बुंदेलखण्ड का सावन

(बुंदेलखंडी भाषा में)

[बरबै]

साउन समयो सोहन, नभ घनश्याम ,

पन्चिम धरें सुरंगी, रँग अभिराम ।

बैहर चलत पुरबिया, धीमो चाल ,

हरियल भूमि लुभनियाँ, हिलुरत ताल ।

राखी भेर भुजरियाँ, दिन त्योहार,
गाँव गाँव सब सारत निज घर-द्वार ।
बिटिया रुच रुच रचती, माँदी आँग ,
धानी सुरँग चुनरिया सेढुर मोंग ।

धानी केरइ कोकई सुही सुरंग,
गलियन साउन उमँगो रंग विरंग ।
माथे पीरीं भुजरियाँ हृदयन माल .
साउन गाउत चलतीं सिन्धुर चाल ।
ढपला बंशी बजि रयै महलन चौक,
सुन सुन ज्वानन उमँगत, मन में सौक ।
भर भर तुपकेँ साँकेँ फेट सँभार,
मूँछन ताव चढ़ाउत, कस तरवार ।

साफा बाँध लहरिया, धोती आल ,
कुरता नीच सलूका, टिपकी लाल ।
भन्बू जूता घूँटन, अति चराय ,
चलत छाँहरी देखत, मन मुसकाय ।

बीर चलें तिन पीछे, युवति समाज,
वीर-सिगाँर मिलन है, अद्भुत आज ।
जायँ मनाउन साउन, बाहिर गाँव,
ताल पुखरिया नारो, जो जहँ ठाँव ।

जल थल चोट रुपावें, धर हिय टेक,
घालत तुपकें भर भर, एकाएक ।
बादर घहरन तुपकन, साउन सोर,
लगत सुहानो छिन छिन, बोलत मोर ।

घाली सुघर घलैया, उड़ गई चोट,
सिरत भुजरियाँ पहुँचे, सूरज ओट ।
कट्ट भुजरियाँ जल में, कछु चुन लेंय,
लौटत बिरियाँ सबको तन तन देंय ।

चोट उड़ावन वारो, अति हरषाय.
बिटियाँ बाय भुजरियाँ, देत बनाय ।
साउन समय हमारो, बहुतई ठीक,
खेलन वीर बनाउन, सच्ची लीक ।
बीरभूमि रसपूरित, सुख की मूल,
खँड बुँदेल की रज रज, पावन फूल ॥

—राजा खलकसिंह

(खलियाधाना-नरेश)

महाकोशल की राजधानी श्रीपुर

सोहत श्रीपुर तीर्थसम महानदी के तीर,
मोहत कोसल कविन-हिय गाथा जासु गँभीर ॥१॥

रम्य राजधानी विदित कोसल की विख्यात,
श्रीपुर ! तुअ वैभव रह्यो नंदनवनहिँ सिहात ॥२॥

आज दिनन के फेर सों भयो विभव तुअ लुप्त,
देश देश विख्यात तुअ नाम है रह्यो लुप्त ॥३॥

× × × ×

पांडववंशी नृपन के शुभ सासन सुखमूल,
सुमरि होत है आज का श्रीपुर ! तव उर-शूल !!

अब तो पावन देश यह भयो अविद्या-खान,
वन्य पशुन सम नरन जहँ रहत सहत अपमान ।

धर्मभाव, आचार शुभ कीन्हें अनत पयान,
निज पवित्र इतिहास को रह्यो न लेसहु ज्ञान ॥

× × × ×

अजहुँ धरत श्रीपुर ! कहा यह अनुपम प्रासाद । ❀
निरखि जाहि होवत उदित रहि रहि हृदय विषाद ॥

*श्रीपुर का विशाल, सुरम्य एवं प्राचीन मन्दिर “लक्ष्मण देवालय”
जिसके सम्बन्ध में कहा जा सकता है:—

अहंकार पतिभक्ति को, कोसल को शृंगार ।

लक्ष्मण देवालय रुचिर, श्रीपुर-श्री-आगार ॥

इस मन्दिर को एक पतिप्राणा रानी ने अपनी 'पतिभक्ति' की स्मृति में निर्माण कराया था। 'श्रीपुर' वर्तमान रायपुर ज़िले में, आरंग के निकट, है।

—लोचनप्रसाद।

भोज-शाला^{*}

छिन्न-भिन्न अवलोकि तुझे हा ! जिय में होत कसाला ।

खम्भन में कौशलयुत अजहूँ दर्शित अक्षरमाला ॥१॥

श्याम शिलाओं में अंकित है नाटक ग्रन्थ निराला ।

आर्य-पूर्वजों का गौरव हा, किसने छील निकाला ॥२॥

यहाँ कभी वेदान्त-सूर्य ने अंधकार था ढाला ।

मुख्य द्वार पर आज लगा है मोह-निशा का ताला ॥३॥

स्वत्व हमारा नहीं आज भी, किसने अन्तर डाला ?

रे रे काल कुटिल तूने ही, उलट समय संचाला ॥४॥

टूटी-फूटी जो भी है तू, करती हृदय उजाला ।

नमन करे हम प्रेमपूर्ण माँ तुझे भोज-नृप-शाला ॥५॥

—महन्त लक्ष्मणाचार्य "अनुज"।

*धार अर्थात् प्राचीन धारानगरी में सुप्रसिद्ध भोज राजा द्वारा प्रतिष्ठित "भोजशाला" को भग्नावस्था में देखकर। इस शाला का दूसरा नाम 'सरस्वती-सदन' था। उसमें भर्तृहरि की कारिका, इतिहास, नाटक आदि अनेक ग्रन्थ 'श्याम' पत्थर की बड़ी बड़ी शिलाओं पर ४००० श्लोकों में खुदवाकर रखे गये थे।

खण्डहर

छिपाये पूर्व-चिन्ह उर-बीच,
खड़े क्या सोच रहे चुपचाप ।
गुणी भी लेते तब सुधि नहीं,
इसीसे है असह्य सन्ताप ॥

× × × ×
हो गया खण्ड-खण्ड प्रत्यङ्ग,
हर लिया दुर्दिन ने तव रूप ।
निपट सुनसान विकल हो रहा,
कहाँ वह शुभ सङ्गीत अनूप ॥

× × × ×
न था जिनके रहने का ठौर,
माँगते थे आ आश्रय-दान ।
आज हो वे सिर पर आसीन,
कर रहे हैं आघात-प्रदान ॥

× × × ×
अरी हिंसक दानव-दुर्वृत्ति !
निन्द्य हठधर्मी, धिक् तव कृत्य ।

किया अर्जन तूने क्या पुण्य,
ढहा प्रतिपक्षी-कीर्ति-सुकृत्य ॥

— भरोसेलाल चौबे ।

तारों के प्रति

सजीले नभ के राजकुमार !

सूक्ष्म रश्मियों की बूँदों का यह शैशव आकार;
नभ के विस्तृत जीवन में आशाओं का अवतार ।
उतरों, मेरे फूलों में ले ओस-बिंदु का रूप;
दो दिन के जीवन में कर लूँ तुमसे अपना प्यार ॥

सजीले नभ के राजकुमार !

कुहू-निशा में अन्धकार-सागर का आया ज्वार;
खगोलों में उड़ती थीं जब नव किरणें साकार ।
मेरी बुझती आँखों में जब था आँसू का भार;
उन्हीं आँसुओं में आये थे ले अपना आकार ॥

सजीले नभ के राजकुमार !

—रामकुमार वर्मा “कुमार” ।

वसन्त-स्वागत

स्वागत सरस वसन्त सन्त-चित-पर-हित-धारन ।
करि बिनाम हिम-त्रास हास भव मुख विस्तारन ॥
सुरभित सुखद समीर पीर-हर पुलकि पसारन ।
सीतल सुपमा पुञ्ज कुञ्ज कमनीय सवौरन ॥
जड़ जङ्गम मन बीच सींच जावन जल निर्मल ।
दिखगवत नव हाव भावमय दृश्य सकल थल ॥

तव आगमन बिलोक शोक हूँ महाँ सुख जागत ।
 दुखहूँ महाँ अतएव देव ! गावत तुअ स्वागत ॥
 तरुवर पात-बिहीन हीन-शोभा मलीन-तन ।
 लखहु आज शृङ्गार धार कस सोहत बन बन ॥
 विकसित पुलकित गात पात निज मृदुल डुलावत ।
 बोल सकति नहिं बैन सैन करि तुमहिं बुलावत ॥
 बौरे कतहुँ कदम्ब अम्ब जन-मन बौरावत ।
 सौरभ-सनित समीर सीर सुपमा सरसावत ॥
 किंसुक-कुसुम अपार डार डारन छबि छावत ।
 तुअ हित मनहुँ विशाल लाल पाँवड़े बिछावत ॥
 फूलि विविध विध फूल शूल भव को बिनसावत ।
 पुष्प अर्घ्य दै भूमि चूमि तव पद सुख पावत ॥
 मृदु छबि पुञ्ज निकुञ्ज कुञ्ज नव शोभा धारत ।
 बकुल केतकी कमल अमल आभा परसारत ॥
 कहुँ कचनार अनार हार फूलन को धारत ।
 कतहुँ निवारी जुही मही सौरभ सञ्चारत ॥
 विविध वन्य पशु चरत करत आमोद मुदित चित ।
 हरिणी हरिण सुछन्द मन्द गति विचरत इत तित ॥
 करत मत्त अलि पुञ्ज गुञ्ज कुञ्जन महाँ डोलत ।
 कोयल “कुहु कुहु” कूकि हूकि हिय, तन विष घोलत ॥
 नाचि नाचि कहुँ मोर रोर मिस तुअ गुण गावत ।
 कहुँ कपोत हारीत प्रीति-मय वचन सुनावत ॥

कतहुँ कौञ्च कहुँ कीर-भीर किलकत तरु-डारन ।
कतहुँ देत जिय चैन बैन मैना मनहारन ॥
प्रमुदित खग-मृग-भीर पीर करि दूरि अथोरी ।
करत सुभग रस-रङ्ग सङ्ग लै निज निज जोरी ॥
सरिता सरवर सकल सजल सुठि सुन्दर सोहत ।
खिलित कञ्ज लहरात बात सों जन-मन मोहत ॥
सारस हंस चकोर मोर करि चक्रवाक जहँ ।
गावत स्वागत गीत प्रीतियुत क्रीड़त जल महँ ॥
नर पशु कीट पतङ्ग अङ्गना-सङ्गति इच्छुक ।
काम-बाण सों बिद्ध सिद्ध नृप तापस भिच्छुक ।
हे ऋतु-राज ! समाज साज सुख सुमति पसारहु ।
हमसे दुखी मलीन दीन जन जिय जनि जारहु ॥

—लोचनप्रसाद ।

वसन्त

सौख्य-सुधा सरसाइये ,
सुभग सुलभ रसवन्त ॥
वर विनोद बरसाइये ,
वसुधा विपिन वसन्त ॥
दस दिस दुति दरसाइये ,
सजि सुरभित सुठि साज ।

जग प्रिय हिय हरसाइये ,
रति रसाल ऋतुराज ॥

अमित अनारन अम्बन ,
अमल असोक अपार ॥

बकुल कदम्ब कदम्बन ,
पुनि पलाम परिवार ॥

जहँ कोकिल कल बोलत ,
ठौर ठौर स्वच्छन्द ॥

गुञ्जत षटपद डोलत ,
पद पद पी मकरन्द ॥

जयति मधुर मनमोहन ,
जयति प्रकृति-शृङ्गार ॥

सुन्दर सब बिधि सोहन ,
कीजिय विपुल बिहार ॥

नित नव निरमल निरखौ ,
रम्य सुरम्यता कुंज ॥

पुनि पुनि प्रमुदित परखौ ,
पूरन प्रियता पुंज ॥

—सत्यनारायण शर्मा ।

बरसाती कविता

भ्रमर कदम्बन पै गान कै उड़ान लागे
होत बलहीन विरहीन तन थर थर ।
ललित हरित लहरान लागे तरुवर
सीरी सीरी चलन समीर लागी सर सर ॥
दामिनि के जोर चहुँ ओर तैं लखान लागे
चातक चकोर मोर सोरन के भर भर ।
भर भर धर धर धार बाँधि घूमि घन
नभ में सघन घहरान लागे घर घर ॥

—ललिताप्रसाद ।

मेघ बहुरङ्गी चारु अवली किराचिन की
कौंधा-रूप इञ्जन की आगी उठै बर बर ।
सीठी करै सीटी-धुनि कूक पिक मोरन की
तार-गर-गट्ट-शब्द दादुर की टर टर ॥
नीलगिरि, विन्ध्याचल-चौकिन करत पार
खेप भर लाई जो भरत नीर छर छर ।
धावती रँगिली रेलगाड़ी भूप पावस की
होत व्योम-मारग में शोर घोर घर घर

ठहरान न दैहै सदा नभ में तुम्हें दैहै उड़ाय हवा खन में ।
जल डारि के सूखते धानन में जस लीजिए तातें उदारन में ॥
बदली जो बयार तो दैहै भराय सबै कन रेत पहारन में ।
गुन-ग्राहक यार बलाहक जू ! लगे नाहक पौन की बातन में ॥

चाँदनी चमेली चारु सावनी रसालन में
बकुल लवंगन कदम्बन सघन में ।
पूरन सरस ऋतु पावस के आवत ही
भई है बहाली हरियाली बाग बन में ॥
पादप वे रूरे जौ लौं आतप सें भूरे रहे
उन्नति निहारी भारी रावरे तनन में ।
अरक जवास ! आप जग तें उदास ऐसे
भरसत कैसे बरसात के दिनन में ॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ॥

अत्रिवेकी मेघ

धान के खेतन पै न परै जल के कन पाहन पै ढरकावैं ।
बाग बगीचन सींचन छाड़ि कै सिन्धु पै नीर उलीचन धावैं ॥
संपत पूरे अधूरे विवेक के दान के रूरे विधान भुलावैं ।
मूसरचन्द ये मूसरधार धराधर ऊसर पै बरसावैं ॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ॥

पावस-प्रमोद *

जय जग-जीवन जलद नवल कुलहा उलहावन ।
विश्व बाटिका विमल वेलि बन वारि बहावन ॥
जीवन दै बन बनस्पती में जीवन लावन ।
गरु ग्रीष्मपन्न दरप दलन मन मोद मनावन ॥
जय मनभावन विपति नसावन सुख सरसावन ।
सावन को जग ठेलि केलि जल चहुँ बरसावन ॥
बाँधि मण्डलाकार पुरन्दर को धनु पावन ।
लरजि दिखावन गरजि तरजि मन भय उपजावन ॥
सनकावन गन पवन ज्योति जुगुनू चमकावन ।
ठनकावन घन सघन दामिनी-दुति दमकावन ॥
तापन सतत सतावन कृषकन जीय जुरावन ।
अतुलित जोम जतावन युवजन हीय चुरावन ॥
भर लावन बुदबुदा उठावन भुवि लरजावन ।
अगनित अमित अनूप कीट-कुल-बल सरजावन ॥
चेतन और अचेतन सबके हिय लहरावन ।
जयति पुलकि पग धारि पीर हरि धीर धरावन ॥
ठौर ठौर बग-पाँति सोहनी सरन सजावन ।
वीरबहूटी विपुल गोल गुलगुली भजावन ॥

(१३१)

छावन दादुर-दल द्रुम-दल पल पल खरकावन ।
विधित वियोगिनि सोगिन हिय पिय बिन धरकावन ॥
शोक-समूह भुलावन छय छिति-छटा गुहावन ।
वादर-बलहिँ बुलावन, पावस परम सुहावन ॥

✽

✽

✽

✽

अद्भुत आभावन्त अङ्ग अति अमल अखण्डत ।
धुमड़ि धुमड़ि घन घना घूम घिरि घोर घमण्डत ॥
कारे कजरारे मतवारे धुरवा धावत ।
सुख सरसावत हिय हरसावत जल बरसावत ॥

✽

✽

✽

✽

घर कोठिन की तरकनि दरकनि माठी सरकनि ।
देखहु तिनकी अररररर ऊपर सो ररकनि ॥
खाय चोट फन पलटि सम्हरि सिर करि सुंकारत ।
लपलपाय जुग जीभ फनी फूँ फूँ फुँकारत ॥
हाथ हाथ में डारि डारि लरिका हँसि खिलकत ।
कुदकि कलिन्दी कूल कहूँ क्रीड़ा करि किलकत ॥
देखहु ग्वार गँवार घेरि गैयनि कहूँ मटकत ।
भपटक भटकत पटकत सटकत लपटक रपटक ॥
पवन-वेग सों चरचराय तरु चर चर चरकत ।
इत उत भोंका खात डार तिन अधवर लरकत ॥

ज्वारि बाजरा मका अराहरि मूँग मोठ बन ।
ग्वारि कागुनी तिल रमास नव उरद हरत मन ॥
टपकी परति बहार लदी जामुन जामुन तर ।
भारत 'जम्बू द्वोप' कहावत जनु जिनहीं पर ॥

❀ ❀ ❀ ❀

ग्रीषम गयो पराइ सकल थल सोहत शीतल ।
देत लैन नहिँ चैन रैन तउ मसक दंसदल ॥
काटत सोवत जनन अभय करि निज निज गरजन ।
जिमि नृप मुँह लागि देत प्रजा को अति दुख दुरजन ॥

जरत दीपकहिँ देखि जरन धावत पतङ्ग गन ।
देत प्रेम प्रन-परिचय ता सँग होमि होमि तन ॥
कबहुँ दुरत घनपटल कबहुँ निकरत पुनि तासन ।
विमल उजास अकास चन्द्रमा करत प्रकासन ॥
झिल्लिन की झनकार झुण्ड झट झट झन झनकत ।
प्रकृति देवि के कड़े छड़े मानहुँ छन छनकत ॥

❀ ❀ ❀ ❀

मेह थमत चुहकार चहचही करत चाव चित ।
फरफराय निज परन फिरत पंछीगन प्रमुदित ॥
धोये धोये पात तरुन के हरसावत मन ।
नेक झकोरत डार झरत अनगिनत अम्बु-कन ॥

घन ब्रूँदन सन सजल थलन, उपजत बुदबुद गन ।
 रेख वतुँलाकार बनति तिनके चहुँ ओरन ॥
 बढि बढि अपने आप नसति जल में ताकी गति ।
 जिमि निरधन हिय आस उठति बढि बढि पुनि विनसति ॥
 सुखद सुरीलो गामन में ललिता गन गामन ।
 भरि उछाह घर सो तिन आमन भूलन जामन ॥
 पवन उड़त उर के पट सों भटपटहिँ सम्हारन ।
 मञ्जुल लोल कलोलनि बोलनि विविध मल्हारन ॥
 एक एक कों पकरि बुलावन कर गहि लावन ।
 जोरावरी चलावन भूला भूमकि भुलावन ॥
 मधुर मिसिमिसी सों मचकी दै जाहि भुलावन ।
 'राखो मेरी सोंह मरी' कहि तास रखावन ॥
 ❀ ❀ ❀ ❀
 भरत द्रुमन सों सुमन सौरभित डारनि हलि हलि ।
 मनहुँ देत बनथली तोहि स्वागत-पुष्पाञ्जलि ॥
 सजल सफल अति सरल सकल सुर नर मुनि मोहति ।
 कलित ललित तृन हरित सङ्कुलित बसुधा सोहति ॥
 खेचर भूचर जलचर तृण तरु सबके गातन ।
 उठति अमन्द तरङ्ग हृदय आनन्द समात न ॥

—सत्यनारायण शर्मा ।

वर्षा का आगमन

सुखद सीतल सुचि सुगन्धित पवन लागी बहन ।
सलिल बरसन लगो बसुधा लगी सुखमा लहन ॥
लहलहीं लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल ।
हरित कुसुमित लगे भूमन वृच्छ मंजुल त्रिपुल ॥ १ ॥

हरित मनि के रङ्ग लागी भूमि मन को हरन ।
लसति इन्दवधून अवली छटा मानिक-बरन ॥
बिमल बगुलन पौंति मनहुँ बिसाल मुक्तावली ।
चन्द्रहास समान चमकति चञ्चला त्यों भली ॥ २ ॥

नील नीरद सुभग सुरधनु वलित सोभाधाम ।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्रीघनस्याम ॥
कूप कुण्ड गभीर सरवर नीर लाग्यो भरन ।
नदी नद उफनान लागे लगे भरना भरन ॥ ३ ॥

रटत दादुर त्रिविध लागे रुचन चातक वचन ।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन ॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सबल ।
विजय-दुन्दुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम अमल ॥ ४ ॥

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ।

(१३५)

वर्षा की बहार

(१)

घिर आईं घन घटा, घटा कर घोर घाम को ।
चली और ही हवा, न गर्मी रही नाम को ॥
पड़ने लगी फुहार, हुआ अभिषेक भूमि का ।
नव-अभिनय की हुई, अहो अभिनीत भूमिका ॥

किसी महा नटराज ने,
प्रकृति-नटी को साजकर ।
इन्द्रजाल का दृश्य यह,
दिखलाया आकाश पर ॥

(२)

आकृति अपनी बदल बदलकर बादल, कैसे—
करें तमाशे, बने प्रगल्भ विदूषक जैसे ॥
कभी गरजकर वीर पात्र का अभिनय करते ।
बिजली की तरवार खींच नभ बीच विचरते ॥

कभी 'धनुष' धारण किये,
बिन्दु-बाण वर्षा करें ।
कभी हवा से हारकर,
कायर से भागे फिरे ॥

(१३६)

(३)

वाह वाह, यह घटा उठी है कैसी काली ।
उद्वेलित हो चला उदधि जैसे छविशाली ॥
बिजली की यह लहर अग्नि की शिखा बनी है ।
रत्न-छाँह सी इन्द्र-धनुष की ज्योति घनी है ॥

फेन-सदृश बकपंक्ति भी,
उसमें शोभा पा रही ।
धन्य धन्य वर्षा नई,
यह बहार दिखला रही ॥

—रूपनारायण पाण्डेय ।

वर्षा-वर्णन

(१)

गया ग्रीष्म-सन्ताप, सुखद हरियाली आई ,
करती विविध प्रलाप, वधू वर्षा ऋतु आई ।
छाये नव-जल-युक्त मेघ चहुँ ओर गगन में ,
छटा और की और हुई क्षिति की अब क्षण में ॥

(२)

धारण करके हरित वस्त्र शुचि शोभाशाली ,
अपने प्रियजन साथ चाल चलती मतवाली ।

(१३७)

नीरद-दल से घिरी, जगत का आतप हरने ,
निकली वर्षा-वधू आज सुख-सागर भरने ॥

(३)

ग्रीष्म-पराभव देख दिवाकर दीन हुआ है ,
प्रबल-प्रताप-विहान, क्षीण, बलहीन हुआ है ।
अचरज इसमें नहीं, जगत की रीति यही है ,
सकता मित्र विलोक मित्र-सन्ताप नहीं है ॥

(४)

उपवन में लहलही लताएँ लहराती हैं ,
लोनी लोनी लोल ललित मन को भाती हैं ।
मानो वे कह रहीं आज आनन्दित मन से ,
हैं आर्ये ! हम मुदित तुम्हारे शुभागमन से ॥

(५)

सरिता-सती समुद्र ओर मिलने को धाई ,
वर्षागमन विलोक प्रीति अतिशय अधिकार्ई ।
कविगण सहित उमङ्ग लेखनी हाथ लिये हैं ,
प्रेमी-जन सानन्द भामिनी साथ लिये हैं ॥

(६)

लौटे पथिक प्रवीन गेह निज देशान्तर से ,
मिले स्वजन से और हृदय में अतिशय हरषे ।

(१३८)

बहुत काल पश्चात् स्वजन-दर्शन जब होता ,
कर सकते अनुमान विज्ञ सुख जो तब होता ॥

(७)

काले काले मेघ गगन भर में छाये हैं ,
मानो असुर अनेक मही पर चढ़ आये हैं ।
घनमण्डल के बीच दामिनी कभी दमकती ,
मानो सुन्दर नटी अधर है नर्तन करती ॥

(८)

शालवृक्ष पर चपल चञ्चला निखती ऐसी ,
राजमार्ग के मध्य कामिनी सुन्दर जैसी ।
करती हुई कलोल चाल चलती मदमाती ;
कोई भी मिस लगा भवन प्रीतम के जाती ॥

(९)

गरज गरज कर मेघ वृथा ही शोर मचाते ,
करते अत्याचार विरहिनी बधू सताते ।
सुनी मेघ की गरज मोर ने पंख फुलाये ,
पावस का यश-गान किया, उसके गुण गाये ॥

(१०)

वृष्टि मूसलाधार अहा ! सुख-मूल सही है ,
सूर्य-चन्द्र छिप गये, दामिनी दमक रही है ।

(१३९)

दादुर वन “मिशनरी” रटन अपनी हो रटते,
“पी पी” करते हुए पपीहे अकुला उठते ॥

(११)

पावस के ये दृश्य सुभग सौन्दर्य-स्वजाना ;
जिसमें दुख की घटा रूप रखती है नाना ॥
अब छोड़ें हम यहीं, वृथा है इन्हें बढ़ाना ,
पिसे हुए को पीस छानकर कष्ट उठाना ॥

(१२)

जो हैं जगदाधार, जिन्होंने जगत बनाया ,
आशा उनसे लगी, उन्हींका ध्यान समाया ।
विनय करें हम यही, “देश की दशा निहारो ,
भारत का दुख घना देख तो नेक उबारो ॥

(१३)

“कृषि है यहाँ प्रधान, उसीपर सब निर्भर हैं ,
कला और साहित्य—सभी केवल इसपर हैं ।
कृषि को जीवन-दान कौन दे बिना तुम्हारे ?
द्रवित हूजिये नाथ ! नीर के बहैं फुहारे ॥”

—नर्मदाप्रसाद मिश्र ।

शरदागमन

भयो विमल आकाश कतहुँ नहिं वारिद माला ।
 लसत मनोहर नील-वरण ता कर यहि काला ॥
 बहत सुहावन पवन, त्रिविध अतिशय सुखकारी ।
 हृदय प्रफुल्लित करनि, सकल वर्षाश्रमहारी ॥ १ ॥
 सोहत नाना वृक्षा, विविध नव-पल्लव-भूषित ।
 सुखद मनोरम भूमि, हरित-तृण सों अति सज्जित ॥
 जरा-अवस्था निरखि, त्यागि पावस जनु कामा ।
 हरित बसन महि डसि, करत सुख सों विश्रामा ॥ २ ॥
 कहुँ कहुँ कुसुमित, सुमन शरद-वैभव दरसावत ।
 निज शोभा दिखराय, सहज ऋतुपतिहि लुभावत ॥
 कूजत विविध त्रिहङ्ग, मधुर-रव हियहिं चुरावत ।
 शुभ्र शरद आगमन, सुखद जनु प्रगट जनावत ॥ ३ ॥
 भये मीन-गण सुखी विमल जल-राशि निहारी ।
 तजे दंश मशकादि प्राण निज व्याकुल भारी ॥
 लागी चातक रटन त्यागि सब धैर्य्य विचारी ।
 गगन रहित घन निरखि, 'तृषा' हा तृषा पुकारी ॥ ४ ॥
 गुञ्जत मधुकर-वृन्द मत्त सरसीरुह-वन में ।
 मनहुँ मधुर मकरन्द पान करि हर्षित मन में ॥
 धन्यवाद मुख खोलि देत निज मधुदाता कहँ ।
 करत प्रशंसा तासु, मधुर स्वर सों जनु हिय महँ ॥ ५ ॥

चूमि कमल मुख तुरत, होत उनमत तेहि मद सों ।
 सब सुधि बुधि बिसराइ, बिबश ह्वै गावत स्वर सों ॥
 करि मनरञ्जक शब्द, सरस अति हिय ललचावत ।
 टेरि मनुज-गण मनहुँ कञ्ज-गुण गाय सुनावत ॥ ६ ॥

बहत सुहावन नीर, बिमल शीतल सरितन में ।
 उठत तरंग अपार, पवन प्रेरित अति जिनमें ॥
 नागर नट कोऊ मनहुँ बिबिध बिधि नृत्य दिखावत ।
 वायु मृदंग समान, तनिक नहिं पैर डिगावत ॥ ७ ॥

बैठे सरितन तीर, अनेकन खग अति मोहत ।
 चक्रवाक बक हंस, चकित जनु दृश्य विलोकत ॥
 भरि अति मोद प्रमोद, देह की सुरति भुलावत ।
 शरद बिभव अवलोकि, मनहुँ नट महिमा गावत ॥ ८ ॥

—लोकमणि ।

शरद

नील नीरद नाहिं दीसत इन्द-धनु नहिं भाय ।
 मन्द गति सरितान की भइ सुठि सोई दरसाय ॥ १ ॥
 व्योम-शोभा बढ़ति निशि में नखत-अवली पाय ।
 मनु सितारन-जड़ित माया नील-पट सरसाय ॥ २ ॥
 बिमल-सरवर लसत कहूँ कहूँ जल अगाध लखाय ।
 ललित पीत सुशालि की मृदु महँक सौँधि सुहाय ॥ ३ ॥

विविध रंग के खिले सरसिज कुमुदिनी लहराय ।
 भ्रमरगण गुंजरहिं मानहुँ प्रकृति यश को गाय ॥ ४ ॥
 मोर मद सों मत्त है अब शोर नाहिं मचाय ।
 नृत्य-रत कहूँ नाहिँ दीखत उपवननि में जाय ॥ ५ ॥
 हंस कलरव करत अब वर विमल सरितन-तीर ।
 सारसन की सुभग जोड़ी कहूँ कलोलत नीर ॥ ६ ॥
 चक्रवाक लखाहिँ कहूँ कहूँ कंजनन की भीर ।
 स्वेत पंछी उड़त नभ-पथ मनहुँ उजरो चीर ॥ ७ ॥
 कंज-रज सों सौरभित शुचि बहत मन्द समीर ।
 हरत हिय-संताप को अरु करि निरोग शरीर ॥ ८ ॥

—लक्ष्मीधर वाजपेयी ।

हेमंत

अहह ! ठंड बड़ी पड़ने लगी,
 रजनि भी क्रम से बढ़ने लगी ।
 घट गया दिन का अब मान है ,
 शरद का लखिये, अवसान है ॥ १ ॥
 ढक गया हिम से रविमण्डल ,
 चल रहा नित वायु अखण्डल ।
 हिम लगा पड़ने निशि में अहा !
 सब दिशा गत-दीप्ति हुई महा ॥ २ ॥

न खिलतीं नलिनी छत्रि-पुञ्ज हैं ,
न उन पै करते अलि गुञ्ज हैं ।
न सर की सुषमा वह है अब ,
न दिन एक सभान कटें सब ॥ ३ ॥

सलिल जो जग-जीवन है अहा !
वह हुआ अब ठंड अहो महा ।
अधिक भीत हुए उससे सब ,
लख उसे तन काँप उठे अब ॥ ४ ॥

“अहह ! शीत बड़ा”—कहते नित,
सकल लोग रहें अति पीड़ित ।
न निकलें निशि में अब बाहर ,
वसन में दबके रहते नर ॥ ५ ॥

पवन है नहिं—हा ! यह तीर है ,
कर रहा यह प्राण अधीर है ।
शमन है यह शीत-निशा नहीं ,
तुहिन-पूर्ण दिशा, विदिशा मही ॥ ६ ॥

इस प्रकार अधीर महान हो ,
विलपते अति व्याकुल प्राण हो ।
वसन-हीन दुखो अति भिक्षुक ,
अहह ! हैं सहते नित वे दुख ॥ ७ ॥

कुहर से जग है ढँकता जब ,
 लख पड़े सबही धुँधला तब ।
 न रवि है नभ में दिखता कहीं ,
 समय जान पड़े सहसा नहीं ॥ ८ ॥

मृदुल मूँग तथा नव ज्वार भी ,
 तिल रमास गये कट ये सभी ।
 कृषक मीज रहे अब धान हैं ,
 चित अहो ! हरते खलिहान हैं ॥ ९ ॥

प्रकृति-वधू की रङ्गभूमि जो ग्राम हैं ,
 होते अभिनय वहाँ नित्य अभिराम हैं ।
 अलसी अरहर हरित हृदय हहरा रहे ,
 गेहूँ जौ हैं कहीं कहीं लहरा रहे ॥ १० ॥

फूल फूल पुन्नाग, लोध मन को हरे ,
 गेंदा-पुष्प-प्रलुब्ध मधुप गूँजा करें ।
 शुभमय सौरभ-सने सुमन सरसों खिलें ,
 सरस साग स्वादिष्ट सहज सस्ते मिलें ॥ ११ ॥

मिष्ट मटर की फली, मृदुल मूली महा ,
 आकर्षित अब करें नरों का मन अहा !
 सुख-दुख-मय नव दृश्य-पूर्ण हेमन्त है ,
 कौन अहो ! पा सकता उसका अन्त है ? ॥ १२ ॥

शिशिर

आई शिशिर बरोरु शालि अरु ऊखन संकुल-धरनी ।
प्रमदा प्यारी ऋतु सुहावनी क्रौञ्चचरोर मन-हरनी ॥ १ ॥
मूँदे मन्दिर उदर भरोखे, भानु-किरन अरु आगी ।
भारी बसन, हसन मुख बाला, नव जोवन अनुरागी ॥ २ ॥
शीतल चन्दन चन्द किरन जहँ चाँदनि चारु अटारी ।
शीतल सघन तुषार बयारहु मन न रमै अब प्यारी ॥ ३ ॥
इक तुषार संघात पात सो रैन भयावनि होई ।
दूजे चन्द जोत तारा-गन सीतल सेव न कोई ॥ ४ ॥

—जगन्मोहनसिंह ।

शिशिर-वर्णन*

भयो अन्त हेमन्त को लग्यो माघ को मास ।
सीत देखि कंपित हृदय दुःसह सीर बतास ॥
धनी लोग धारे फिरत सुभग दुसाले साल ।
सहत सीत-दुख दरिद-जन देत दोष निज भाल ॥
ससि तारा निसि में सकल पाण्डुवर्ण दुति-हीन ।
ढके कुहर सों ग्राम बन खेतन दृश्य मलीन ॥
ईख-खेत-शोभा सुखद देखत मनहि लुभाय ।
रखवाली जाकी करत कृषकन कुटी बनाय ॥

* एक ओड़िया पद्य का अनुवाद ।

(१४६)

निसि में तहाँ जलाई के आगी सुखद अनल्प ।
 हँसत करत ग्रामोन जन ग्राम-कथा, बहु गल्प ॥
 तोरि ऊख, रस अमृत-सम करि पुलकित चित पान ।
 बिहरत इत-उत बालकन करत मधुर सुर गान ॥
 फूले सरसों सुमन लखि सुवरण कान्ति लजाय ।
 पुष्प सुभग 'सतवर्ग' की सोभा वरनि न जाय ॥
 अद्भुत यह सोभा परम पटतर याको नाहिँ ।
 चारु पीत अम्बर मनहुँ धरनी पहिरि सुहाहिँ ॥
 शोभित बारिन महुँ सुभग "सोमफूल" अति स्वेत ।
 नभ में जिमि तारे विमल तिमि यह सोभा देत ॥
 सिसिर अन्त पुनि आइ है मधुमय सुखद वसन्त ।
 धन्य विश्व-कारण प्रभो ! महिमा तोर अनन्त ॥

—विद्याधर पाण्डेय ।

सन्ध्या

(१)

हुए अस्तङ्गामी प्रखर कर हो शान्त रवि के ।
 लगे नाना दृश्य प्रवर हरने चित्त कवि के ॥
 'हुई सन्ध्या' ऐसे विहग करते शब्द मुख से ।
 बसेरों में जाने निज निज लगे शान्ति-सुख से ॥

(१४७)

(२)

हुई जो आम्लान प्रकृति छवि थी दोपहर में ।
जले से जाते थे तरु-सुमन मार्तण्ड-कर में ॥
नहीं जाती शोभा अतुल उनकी है अब कही ।
उठी हैं हो सारी द्रुम-कुसम-बल्ली लहलही ॥

(३)

लगी धीरे धीरे पवन बहने सौरभ-मयी ।
नचाते पुष्पों को, व्रतति, तरु को, दे छवि नई ॥
लिये पोथी, देखो, शिशु उछलते शान्त मन से ।
चले आते, होके मुदित, घर, शाला-भवन से ॥

(४)

कमाई खेतों की कर, भजन गाते अब अहा !
खुशी होते जी में कृषक घर को है फिर रहा ॥
बजाते वंशी को मुदित, सिर में ईंधन लिये ।
चला आता ग्वाला भवन-वन से गोधन लिये ॥

(५)

गले की घण्टी हैं महिष-गण की शब्द करती ।
अकेले यात्री का, बरबस, थका चित्त हरती ॥
भवानी-स्वामी का विभव करते गान मुख से ।
चला सायं-सन्ध्या-हित सरित को विप्र सख से ॥

(१४८)

(६)

उगाता जो ज्ञान-द्रुम सुजन-हृद-भू विमल में ।
मनोहारी ऐसे सुर-सदन^१ के पुण्य थल में ॥
लगी होने शङ्ख-ध्वनि सुख-सुधा वृष्टि करते ।
थके ग्रामीणों के हृदय-भुवि का ताप हरते ॥

(७)

लगा धीरे धीरे तम प्रसरने ग्राम-वन में ।
दिशाओं में सारी, जल-थल-गुहा में, गगन में ॥
गया है पृथ्वी का मिट दिवस-कोलाहल बड़ा ।
हुई है निस्तब्धा प्रकृति, जग है नीरव खड़ा ॥

(८)

लगे तारे, देखो, अब गगन में यों चमकने ।
मनोहारी जैसे विमल मणि के दीपक घने ॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

न होती जो सन्ध्या, मिल न सकते शान्ति-सुख ये ।
मिटाने कैसे हा ! जन दिवस के श्रान्त दुख ये ॥

—लोचनप्रसाद ।

प्रभात

अन्धकार से आवृत था संसार ।
गलियाँ थीं जन-शून्य, बन्द घर-द्वार ॥
थे अचेत निद्रा में प्राणी सर्व ।
ऊँच नोच का तजकर सारा गर्व ॥
नीरव निश्चल था जग सभी प्रकार ।
कहीं नहीं मानव का था सञ्चार ॥
हुआ पूर्व नभ ज्योंही क्रम से लाल ।
त्योंही जाग उठा यह विश्व विशाल ॥
कुक्कुट ने अति मधुरी वाणी बोल ।
दीं निद्रित जीवों की आँखें खोल ॥
काँव काँव कर छप्पर छप्पर जाय ।
फिरते हैं घर घर को काग जगाय ॥
ग्राम, नगर, वन, उपवन चारों ओर ।
होता है अति अद्भुत कैसा शोर ॥
वायु आयु-वर्द्धक अति मन्द सुगन्ध ।
बहता है बहु पुष्पों से ले गन्ध ॥
तरु-डालों पर बैठे विविध विहङ्ग ।
बोल रहे हैं बोली रङ्ग-विरङ्ग ॥
निज पति पत्नी सुत से चोंच मिलाय ।
चहक रहे हैं खग पर पूँछ हिलाय ॥

पूर्व दिशा को कर अति शोभावान ।
उदय हुए क्षण में दिनकर भगवान ॥
लखकर नभ में बादल रङ्ग बिरङ्ग ।
पुलकित हो उठता है कैसा अङ्ग ॥

शुरू हुए दिन के सब कारोबार ।
चारों ओर हुआ फिर जन-सञ्चार ॥
जीवन की चिन्ता-हित होकर व्यस्त ।
लगे काम में निज निज लोग समस्त ॥

श्रमहारी निद्रा से पा नव-प्राण ।
चला काम में अपने श्रमी किसान ॥
गोधन लिये बजाते वंशी ग्वाल !
वन को जावेँ चलते धीमी चाल ॥

शिशुओं ने निज पुस्तक ले सानन्द ।
लिया पाठशाला का मग स्वच्छन्द ॥
फूले कमल सरों में शोभा-पुञ्ज ।
जहाँ भ्रमर फिरते हैं करते गुञ्ज ॥

वन कानन में विकसे बहु विधि फूल ।
जिनका सौरभ हरता है सब शूल ॥
पत्र पुष्प तृण ऊपर मुक्ता-रूप ।
ओस-बिन्दुओं की छवि अहो अनूप !

है छवि अनुपम चारों ओर लखात ।

अतिशय सुखदायक है अहा ! प्रभात !

—लोचनप्रसाद ।

प्रभात

चल पड़ी चुपचाप सन-सन-सन हुआ,

बेलियों को यों चिताने सी लगी ।

पुतलियाँ कलियाँ, अरी खोलो जरा,

लिपटना छोड़ो—मनाने-सी लगी ॥

बेलियाँ सिमटीं, पँखुड़ियाँ खुल पड़ीं,

हिल स्वपतियों को जगाने-सी लगीं ।

पत्तियों की चुटकियाँ बजने लगीं,

डालियाँ कुछ दुलमुलाने-सी लगीं ॥

जग उठा तरु-वृन्द जग, सुन घोषणा,

पंखियों में चहचहाहट मच गई ।

वायु का झोंका जहाँ आया,—अहा !

विश्व-भर में सनसनाहट मच गई ॥

—एक भारतीय आत्मा ।

[“त्यागभूमि” से]

(१५२)

मध्याह्न

(१)

आई मध्याह्न-वेला प्रखर अति हुई

सूर्य की रश्मि-माला ।

पृथ्वी में है अहा ! क्या बरस यह रही

व्योम से अग्नि-ज्वाला ?

उष्मा से भूमि की हो पवन अब बढ़ा

तप्त सन्ताप-कारी ।

जीवों को दग्ध-सा है अहह ! कर रहा

दे उन्हें दुःख भारी ॥

(२)

छाया चारों दिशा में रज-दल, वसुधा

की हुई दीप्ति हीना ।

तालों के नीर ठण्डे अब गरम हुए

पद्म-माला मलीना ॥

पेड़ों की डाल, बल्ली, किसलय, कलिका

कुञ्ज शोभायमान ।

होके सन्तप्त हा ! हा ! दिनकर-कर से

हो रहीं सर्व म्लान ॥

• (१५३)

(३)

प्यासे हो, चञ्चु खोले, कलरव तजके
भीत से मौन धारे ।

बैठे हैं कोटरों में खग-गण तरु के
ताप-सन्ताप-मारे ॥

होके हा ! शुष्क-कण्ठ व्यथित विपिन के
जन्तु दग्धा मही में ।

छाया में हाँफते जा, तज तृण चरना
शान्ति पाके न जी में ॥

(४)

खेतों से ह्रान्त होके कृषक-गण सभी
गेह को लौट आये ।

पत्नी, कन्या सुशीला, सुत मिल सबसे
क्लेश सारे मिटाये ।

ग्रामों में वृक्ष-नीचे अति सुखकर है
बालकों का जमाव ।

क्राड़ा के रङ्ग में जो प्रकटित करते
मोद के भूरि-भाव ॥

(५)

ले, देखो, काष्ठ-बोझा निज निज सिर पै
काष्ठ-जीवी बिचारे ।

(१५४)

आते हैं गीत गाते भवन, न गिन के
कृान्ति-दुःखादि सारे ॥
मांसाहारी अनारी पशु-वध जिनको
खेल है मोद-सार ।
जात हैं मोद से वे नर सर, वन को
ढूँढ़ने को शिकार ॥

(६)

ग्रामों के प्रान्त में हैं तरु-तल करते
ढोर बैठे जुगाली ।
बैठे हों ग्वाल-पत्नी ध्वनि मुदित करें
बाँसुरी की निराली ॥
भूखा प्यासा अकेला पथिक तपन के
ताप से कृान्त होके ।
छाया में वृक्ष की है गमन कर अहो !
बैठता श्रान्त होके ॥

(७)

वृक्षों को, जन्तुओं को, सकल जगत को
ताप दे दुःखदायी ।
लेते मध्याह्न में हैं दिनकर कर जो
खींच के नीर भाई !

(१५५)

होते प्रत्यूष वेला अगणित हिम के
त्रिन्दु भू-सिञ्चनार्थ ।
देता है सूर्य्य भू को खग मृग जग का
मित्र होके यथार्थ ॥

—लोचनप्रसाद

उषा से

वह क्षण मुझे नहीं है ज्ञात,
जब तुझसा ही मा अवदात,
अरुण-कमल-दल पर निज कर-से,
मैं लिख दूँगी सुन्दर काव्य ?
क्या है तुझको इसका भान,
यह होगा मुझसे सम्भाव्य ?

सरल कल्पना में सकुमार,
उठता है मा, शुचि सम्भार,
तू उसमें निज कुशल करों से,
अङ्कित कर दे सुन्दर छन्द ।
भर दे उसमें निच्छल गति, लय,
मृदु स्वर, मा, हाँकर स्वच्छन्द ॥

वसुधा के अञ्जल में दीन,
जग होगा निद्रा में लीन,

(१५६)

तब मैं तेरा विमल कण्ठ से,
गा दूँगी प्रभात-सङ्गीत ।
नव्य काव्य से लेकर, मा कुछ,
निरुपम, अश्रुत, भाव पुनीत !

जग में छा जावेगा कलरव,
मैं हो जाऊँगी तब नीरव

तेरे अन्तस्तल में जाकर,
केवल भङ्कृत होगा गान ।
जग की हृत्तन्त्री में मात,
लेकर अपना भाव महान ॥

—मङ्गलप्रसाद विश्वकर्मा ।

विचार करने-योग्य बातें

मैं कौन हूँ ? किसलिए यह जन्म पाया ?
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किसको शरीर ,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ? ॥ १ ॥

क्यों पाप-पुण्य-पचड़ा जग-बीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सबको भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहाँ सिधारे ?
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारे ? ॥ २ ॥

नाना प्रकार जग में जन जन्म पाते ,
पीते तथा नित यथा-विधि खाद्य खाते ॥
तौभी सदैव मरते सब जीवधारी ।
क्यों अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी ॥ ३ ॥

क्या वस्तु मृत्यु ? जिसके भय से विचारे ।
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे ॥
क्या बाघ है ? विशिख है ? अहि है विषारी ?
किंवा विशाल-तम तोप दृढ़ाङ्गधारी ? ॥ ४ ॥

पृथ्वी-समुद्र-सरिता-नर-नाग-सृष्टि ,
माङ्गल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि ।

कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना ।

व्यापार-भार सहता रहता महान् ॥ ५ ॥

विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता ,

स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?

जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता ,

तो मूल्यवान फिर क्यों निज काल खोता ? ॥ ६ ॥

कोई सदैव सुख-युक्त करे विहार ।

कोई अनेक-विधि दुःख सहे अपार ॥

जो भेद-भाव सबमें यह विद्यमान ।

क्या बीज-वस्तु उसकी जग में प्रधान ? ॥ ७ ॥

तेजोनिधान रवि-बिम्ब सुदीप्ति-धारी ।

आह्लादकारक शशी निशि ताप-हारी ॥

जो थे प्रकाशमय पिण्ड गये बनाये ।

तो व्योम-बीच कब ये किस भाँति आये ? ॥ ८ ॥

क्यों एक देश सहसा बल-वृद्धि पाता ?

क्यों अन्य दीर्घ-दुख-सागर में समाता ?

ये खेल कौन, किस कारण खेलता है ?

क्यों नित्य नित्य सुख में दुख मेलता है ? ॥ ९ ॥

ये हैं महत्त्व-परिपूरित प्रश्न-सार ।

एकान्त जो नर करें इनका विचार ॥

होवें अवश्य जन वे जग में महान ।

सज्ञान और वर-बुद्धि-विवेकवान ॥ १० ॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

कर्मवीर

देखकर जो विघ्न-बाधाओं को घबराते नहीं ।

भाग पर रह करके जो पीछे हैं पछताते नहीं ॥

काम कितना ही कठिन हो पर जो उकलाते^१ नहीं ।

भीड़ पड़ने पर भी चञ्चलता जो दिखलाते नहीं ॥

होते हैं यक आन^२ में उनके बुरे दिन भी भले ।

सब जगह सब काल में रहते हैं वह फूले-फले ॥ १ ॥

आज जो करना है कर देते हैं उसको आज ही ।

सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही ॥

मानते जी की हैं, सुनते हैं सदा सबकी कही ।

जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आपही ॥

भूलकर वह दूसरे का मुँह कभी तकते नहीं ।

सिद्धि का पाये बिना वे वीर रुक सकते नहीं ॥ २ ॥

जो कभी अपने समय को याँ बिताते हैं नहीं ।

काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं ॥

आज कल करते हुए जो दिन गवाँते हैं नहीं ।
 यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं ॥
 बात है वह कौन जो होती नहीं उनके किये ।
 वह नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥ ३ ॥

गगन को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर ।
 वह घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर ॥
 गर्जते जलराशि की उठती हुई ऊँची लहर ।
 आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर ॥
 है कँपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं ।
 भूलकर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥ ४ ॥

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवे बना ।
 काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना ॥
 हँसते हँसते जो चबा लेते हैं लोहे का चना ।
 “है कठिन कुछ भी नहीं” जिनके है जी में यह ठना ॥
 कोस कितने ही चलें पर वह कभी थकते नहीं ।
 कौन सी है गाँठ जिसको खोल वह सकते नहीं ॥ ५ ॥

ठीकरो^१ को वह बना देते हैं सोने की डली ।
 रंग^२ को करके दिखा देते हैं वह सुन्दर खली^३ ॥

१ मिट्टी के फूटे बर्तनों के टुकड़े । २ रेत । ३ तीसी या सरसों
 की खली जो पशुओं के खाने में आती है और खाद बन सकती है ।

वह बबूलों पर लगा देते हैं चम्पे की कली ।
 काक को भी वह सिखा देते हैं कांकिल-काकली ॥
 ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वह कमल ।
 वह लगा देते हैं उकठे* काठ में भी फूल-फल ॥ ६ ॥
 काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते ।
 सामना करके नहीं जो भूलकर मुँह मोड़ते ॥
 जो गगन के फूल बातों से वृथा नहीं तोड़ते ।
 संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते ॥
 बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कागवन* ।
 काँच को करके दिखा देते हैं वह उज्ज्वल रतन ॥ ७ ॥
 पर्वतों को काटकर सड़कें बना देते हैं वह ।
 सैकड़ों मरुभूमि में नदियाँ बहा देते हैं वह ॥
 अगम जलनिधि-गर्भ में वेड़ा चला देते हैं वह ।
 जंगलों में भी महा मंगल मचा देते हैं वह ॥
 भेद नभतल का उन्होंने है बहुत बतला दिया ।
 है उन्होंने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥ ८ ॥
 कार्य-थल को वह कभी नहीं पूछते “वह है कहाँ” ।
 कर दिखाते हैं असंभव को वही संभव यहाँ ॥
 उलझने आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहाँ ।
 वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहाँ ॥

डाल देते हैं विरोधी सैकड़ों ही अड़चलें ।
वह जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥ ९ ॥
जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्वत खड़ा ।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वह उड़ा ॥
बोच में पड़कर जलधि जां काम देवे गड़बड़ा ।
तो बना देंगे उसे वह क्षुद्र पानी का घड़ा ॥
बन खँगा लेंगे^१ करेंगे ज्योम में बाजीगरी ।
कुछ अजब धुन काम के करने की उनमें है भरी ॥ १० ॥
सब तरह से आज जितने देश हैं फूले-फले ।
बुद्धि-विद्या-धन-विभव के हैं जहाँ डेरा डले ॥
वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले ।
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले ॥
लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी ।
देश की वो जाति की होगी भलाई भी तभी ॥ ११ ॥
— अयोध्यासिंह उपाध्याय ।

विजयादशमी

मेरी विजयादशमी आज
पराधीन है देश हमारा, निर्बल हीन समाज
‘लली’ न जाने कहाँ छिपी है देश-धर्म की लाज ।

१ छान लेंगे; प्रत्येक अङ्ग देख लेंगे ।

आती हो प्रति वर्ष सदा ही लेकर सुख का साज
किन्तु बता दो अरी विजयिनी ! कौन सुखी है आज ॥
कहाँ गया है अतुल तेज वह विजय दिवस का आज
x x x x
नित्य पराजित हुए पुण्य तिथि आयेगी किस काज ?

—तोरन देवी “लली” ।

स्वदेश-प्रीति*

होगा नहीं कहीं भी ऐसा अति दुरात्मा वह प्राणी ।
अपनी प्यारी मातृभूमि है जिससे नहीं गई जानी ॥
“मेरी जननी यही भूमि है”—इस विचार से जिसका मन ।
नहीं उमङ्गित हुआ वृथा है उसका पृथ्वी पर जीवन ॥ १ ॥
क्या कोई ऐसा है जिसका मन न हर्ष से भर जाता ।
देश-विदेश घूमकर जिस दिन वह अपने घर को आता ॥
यदि कोई है ऐसा, तो तुम जाँचो उसको भले प्रकार ।
नाम न लेता होगा कोई करता होगा नहीं सत्कार ॥ २ ॥
पावै वह उपाधि यदि उत्तम अथवा लक्ष्मी का भण्डार ।
लम्बा-चौड़ा नाम कमाकर चाहे हो जावै मतवार ॥
उसकी सब पदवियाँ व्यर्थ हैं उसके धन को है धिक्कार ।
केवल अपने तन की सेवा करता है जो विविध प्रकार ॥ ३ ॥

* Scott कवि कृत Love of Fatherland का अनुवाद ।

विमल कीर्ति का जीवन भर वह कभी न होगा अधिकारी ।
घोर मृत्यु के पंजे में फँस पावेगा वह दुख भारी ॥
तुच्छ धूल से उपजा था वह उसमें ही मिल जावेगा ।
उस पापी के लिए न कोई आँसू एक बहावेगा ॥ ४ ॥

—गौरीदत्त वाजपेयी ।

शिशु

विश्व-उपवन के कोमल पुष्प,
मातृ-वीणा की मृदु भंकार ।
प्रकृति-प्रतिपादित सुखमा-सार,
प्रणय की सफल बेलि साकार ।
सुखी जीवन-कुवेर के कोष
दुःख में देते हो परितोष ॥

—रामसेवक त्रिपाठी ।

['व्यागभूमि' से ।]

मेरी बिटिया

मैं बचपन को बुला रही थी,
बाल उठी बिटिया मेरी ।
नन्दन-वन सी फूल उठी यह,
छोटी सी कुटिया मेरी ॥

‘मा ओ’ कहकर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आई थी ।
कुछ मुँह में कुछ लिये हाथ में
मुझे खिलाने आई थी ॥
मैंने पूछा—“यह क्या लाई ?”
बोल उठी वह—“माँ काओ ।”
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से,
मैंने कहा—“तुम्हीं खाओ ।”
—सुभद्रा कुमारी चौहान ।

बेटी की बिदा*

प्यारी बहिन ! सौंपती हूँ मैं अपना तुम्हें खजाना ।
है इसपर अधिकार तुम्हारे बेटे का मनमाना ॥
रक्त मांस औ हाड़ हमारा है यह बेटी प्यारी ।
करो इसे स्वीकार हुई यह अब सब भाँति तुम्हारी ॥ १ ॥
पूजे कई देवता हमने तब इसको है पाया ।
प्राण-समान पालकर इसको इतना बड़ा बनाया ॥

* Kamla's Letters के एक अंग्रेजी पद्य का अनुवाद ।
विवाह हो जाने पर लड़की की माँ लड़के की माँ को अपनी लड़की
सौंप रही है । मूल अंग्रेजी कविता दक्षिण की है । वहाँ यह चाल है ।

यही आत्मा आज हमारी हमसे बिछुड़ रही है ।
समझाती हूँ जी को तो भी धरता धीर नहीं है ॥ २ ॥

बहिन ! ढिठाई माता की तुम मन में नेक न धरियो ।
इस कोमल बिरवा की रक्षा बड़े चाव से करियो ॥
है यह नम्र मेमने से भी, भीरु मृगी से बढ़कर ।
कड़ी बात या चितवन से यह कँप जाती है थर थर ॥ ३ ॥

है गँवार यह भोली-भाली, नहीं शिष्टता जाने ।
तो भी यह गुरु-जन की आज्ञा बड़े प्रेम से माने ॥
साँचे में तुम इसे ढालियो, कभी न यह तड़केगी ।
बहिन ! सिखाने से चतुराई, बेटी सीख सकेगी ॥ ४ ॥

यह गुड़िया, यह लक्ष्मी अपनी, जीवन-मूल, दुलारी ।
हृदय थामकर करती हूँ मैं अब आँखों से न्यारी ॥
माता-नेह साँच तुम मन में दुख मेरा अनुमाने ।
छिपे नहीं है प्रीति छिपाये, बहिन ! सत्य यह जानो ॥ ५ ॥

इसका रूप निहार दिव्य मैं पल पल सुख पाती थी ।
गान-समान सुरीली बोली इसकी मन भाती थी ॥
बहिन ! तुम्हें भी ये सब बातें जान पड़ेंगी आगे ।
अपने नैन रखोगी इसपर जब तुम नित अनुरागे ॥ ६ ॥

इसकी मंद हँसी से मेरा सुख अति बढ़ जाता था ।
कठिन घाव भी उससे दुख का अच्छा हो जाता था ॥

इसे उदास देख आँखों में भर आता था पानी ।
छिपी नहीं है बहिन ! किसीसे माता-प्रेम-कहानी ॥ ७ ॥

बड़ी लालसा भी निज मन की इसने नहीं बताई ।
कर संकोच कठिन पीड़ा भी अपनी सदा छिपाई ॥
तो भी मैं सब लख लेती थी इसके बिना कहं हो ।
यों ही तुम इसकी सब बातें, लखियो, बहिन मनेही ॥ ८ ॥

अपना मांस-पिण्ड देती हूँ मैं तन से कर न्यारा ।
है यह जीवन मेरे जी का, आँखों का है तारा ॥
इस अनाथ बच्चे का पालन माता-सम तुम कीजो ।
मेरी इस बल-हीन दशा में बहिन ! बाँह गह लीजो ॥ ९ ॥

करो बहिन ! स्वीकार दया कर मेरी इतनी विनती ।
बच्चों में अपने तुम करियो इस बेटी की गिनती ॥
दीजै बहिन ! भरोसा मुझको हाथ हाथ में देकर ।
बेटी-सम पालेंगी इसको हम माता-सम सेकर ॥ १० ॥

मेरी ये आँखें पीती थीं नित जो रूप मनोहर ।
क्या उसके दर्शन का मुझको फिर न मिलेगा अवसर ॥
जिस बोली से धीरे धीरे इसे बुलाती थी मैं ।
क्या वह भी अब मूक रहेगी रख जी की जी ही में ॥ ११ ॥

हा मेरी अनमोल लाइली ! प्राणाधार ! दुलारी !
क्या तू मुझे नहीं समझेगी अब अपनी महतारी ॥

तुझे नई माता मिलती है, मैं तुझको खोती हूँ ।

यही सोच सुख में भी तेरे बेटी ! मैं रोती हूँ ॥१२॥

हाय ! आज से हुआ हमारा यह घर भरा अँधेरा ।

होकर निपट निराम न क्यों अब हृदय फटेगा मेरा ॥

अब मेरे इस सूने घर को उजला कौन करेगी !

कौन मधुर बातों से मेरा रीता हृदय भरेगी ! ॥१३॥

कौन सुरीली बीन बजाकर, मधुर गीत गावेगी ।

घर में कौन लड़कियाँ छोटी न्यौत न्यौत लावेगी ॥

सखियों के संग कौन खायगी, खेलेगी, भूलेगी !

किसको मुन रामायण पढ़ते यह छाती फूलेगी ॥१४॥

हा बेटी ! हा गुड़िया मेरी ! हा मेरी सुकुमारी !

तेरे बिना हृदय यह मेरा पावेगा दुख भारी ॥

केवल दैव दयामय जो दुख जान सके हैं जन का ।

वही धीरे दे दूर करेगा संकट मेरे मन का ॥१५॥

जाकर वहाँ दूर हे बेटी ! मुझे भूल मत जाना ।

कभी कभी इस दुखिया की भी सुध निज मन में लाना ॥

रो मत, बेटी ! जा अपने घर संग नई माता के ।

लीजे वहिन ! इसे अब मुझसे, देती हूँ सिर नाके ॥१६॥

दुहिता के शोक में

- १—मैंने कहा, सुना पर तुमने किस दिन मेरे प्राण !
मन्द-स्पन्दित दीपक का जब, होता था निर्वाण ॥
- २—अब प्राचीर तिमिर की उठकर खड़ी हुई सब ओर ।
पृथ्वी से नभ तक दिगन्त में जिसका ओर न छोर ॥
- ३—दृश्य अदृश्य हो गये सारे, नहीं किरण तक एक ।
क्यों तोड़ोगे, रहने दो वह अपनी निष्ठुर टेक ॥
- ४—अन्धकार में सोने दो, मेरी बच्ची को मौन ।
चिर-निद्रा के पास स्नेह का कहो मूल्य ही कौन ?
- ५—जन्म लिया, पर पा न सकी आजन्म पिता का प्यार ।
वंचित शिशु के लिए तुम्हारा यह निष्फल उपहार !
- ६—नीले होठों पर रखते अब सजल स्नेह की छाप ।
जीवन में क्यों छिपा लिया था मधुर-भाव चुपचाप !
- ७—सदा सभीत रही जो लखकर वक्र तुम्हारी दृष्टि ।
अश्रु-वृष्टि अब कर न सकेगी प्रियतम ! उसकी सृष्टि ॥
- शम्भूदयाल सक्सेना ।

['विशाल भारत' से]

शिशिर पथिक

विकल पोड़ित पीय-पयान ते
चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो,
भुजन भेंट तिन्हैं अनुराग सों
गमन-उद्यत भानु लखात हैं ॥ १ ॥

तजि तुरन्त चलं, मुख फेरि कै
शिशिर-शीत-सशङ्कित जीवहीं,
विहग आगत बैन पुकारते
रहि गये, पर ताहि सुनी नहीं ॥ २ ॥

तनि गये सित आस-वितान हूँ
अनिल झार बहार धरा परी,
लुकन लोग लगे घर बीच हैं
विवर भीतर कीट-पतङ्ग से ॥ ३ ॥

युग भुजा उर-बीच समेटि कै
लखहु आवत गैयन फेरि कै,
कँपत कम्बल बीच अहीर हूँ
भरमि भूलि गई सब तान है ॥ ४ ॥

तम भयङ्कर कारिख फेरि कै
प्रकृति दृश्य कियो धुँधलो सबै,
बनि गये अब शीत-प्रताप ते
निपट निर्जन घाटऽरु बाट हूँ ॥ ५ ॥

पर चलो वह आवत है, लखो
विकट कौन हठी हठ ठानि कै ?
चुप रहैं तब लौं जब लौं कोऊ
सुजन पूछनहार मिलै नहीं ॥ ६ ॥

शिथिल गात महा, गति मन्द है ,
चहुँ निहारत धाम विराम को ,
उठत धूम लख्यो कछु दूर पै ,
करत स्वान जहाँ रव घोर हैं ॥ ७ ॥

कँपत आइ भयो छिन में खड़ो
युग कपाट लगे इक द्वार पै ,
सुनि पर्यो “तुम कौन ?” कह्यो तबै—
“पथिक दीन दया इक चाहतो” ॥ ८ ॥

खुलि गये भट द्वार धड़ाक से ,
धुनि परी मधुरी यह कान में—
“निकसि आइ बसौ यहि गेह में ,
पथिक वेगि सकोच विहाइ कै” ॥ ९ ॥

पग धरो जब भीतर भौन के
अतिथि आवन आयसु पाइ के ,
कठिन शीतज ताप-विघातिनी
अनल दीर्घ-शिखा जहँ फेंकती ॥ १० ॥

चपल दीठि चहूँ दिशि जाइके
पथिक की पहुँची इक केन में ,
वय-पराजित जीवन-जंग में
दिन गिनै नर एक परो जहाँ ॥ ११ ॥

सिग-समीप सुता मन मारि कै
पितहिँ सेवति सील-सनेह सों ,
तहँ खड़ी नत-गात, कृशाङ्गिनी
लसति वारि-विहीन मृणाल सी ॥ १२ ॥

लखि फिरी दिसि आवनहार के
विमल आसन इङ्गित सों दियो ,
अतिथि बैठि असीस दियो तवै
“फलवती सिगरी तुव आस हो” ॥ १३ ॥

मृदु हँसी करुणा-रस-संगिनी
तरुनि आनन ऊपर धारि कै ,
कहति “हाय पथी ! सुनु बावरे
न तरु नीरस में फल लागई ॥ १४ ॥

“गति लखी विधि की जब वाम में
जगत के मुख मां मुख मारि कै ,
पितृ-निदेश निवाहन औ मदा
अतिथि-सेवन के व्रत में लियो ॥ १५ ॥

“अब कहो निज नाम, चले कहाँ ?
 कहहु आवत हौ कित ते इतै ?
 विचलि कै चित के किहि वेग सों
 पग धर्यौ पथ-तीर अधीर है ? ॥ १६ ॥

“अखिल आस अमी-रस सींचि कै
 सतत राखति जो तन-बेलि हीं ,
 पथिक ! बैठि अरे तुव बाट को
 युवति जोवति है कतहूँ कोऊ ? ॥ १७ ॥

“नयन कोउ निरन्तर धावहीं
 तुमहिं हेरन को पथ बीच में ?
 श्रवण-बाट कोऊ रहते खुले
 कहुँ, अरे, तुव आहट लेन को ॥ १८ ॥

“कहुँ कहुँ तोहिं आवत जानि कै
 निकटता तुव प्रेम-प्रदायिनी ,
 प्रथम पावन कारण होत है
 चरन-लोचन-बीच बदा-बदी ? ॥ १९ ॥

“करि दया, भ्रम जो मुख देत है
 सुमन-मञ्जुल-जाल बिछाई कै ,
 कठिन, काल, निरंकुश निर्दयी
 छिनहिं छीनत ताहि निवारि कै ?” ॥ २० ॥

द्वि गयां उन बैननि-भार सों
पथिक दीन, मलीन, थके भयो ,
अचल मूर्ति बन्यो, पल एक लौं
सब क्रिया तन की मन की रुकी ॥ २१ ॥

बदन पौरुष-हीन विलोकि कै
नयन नीरन उत्तर दै दियो—
“तव यथार्थ सबै अनुमान है
अति अलौकिक देवि दयामयी” ! ॥ २२ ॥

अचल नैननि सों सुनिहारते
पथिक को अपनी दिसि देखिकै ,
इमि लगी कहने फिर कामिनी
अति पवित्र दया-व्रत-धारिणी ॥ २३ ॥

“कुशलता न अहै यहि में कछु
अरु न विस्मय की कछु बात है ,
दिवस जो दुख की दिसि खेवही
गति लखैं मग में उलटी सबै” ॥ २४ ॥

उभय मौन रहे कछु काल लौं
पथिक ऊपर दीठि उठाइ कै ,
इक उसास भरी गहरी जवै
यह कढ़ी मुख ते वचनावली ॥ २५ ॥

“अवनि ऊपर देश-विदेश में
दिवस घूमत ही सिगरे गये ,
मिसिर, काबुल, चीन, हिरात की
चरण-धूरि रही लिपटाइ है ॥ २६ ॥

“पर-दशा-दिशि-मानस योगिनी
लखि परी इकली भुव बीच तू ,
यह विशेष विचारि सुनावहूँ
सुतनु ! मो तनु पै जू व्यथा परी ॥ २७ ॥

“मन परै दुख की जब वा घरी
पलटि जीवन जो जग में दियो,
चतुर ‘मेजर’ के वश है, अहो
जब कियो अपनो सुख-नाश मैं ॥ २८ ॥

“हित-सनेह-सने मृदु बोल सों
जब लियो इन कानन फेरि मैं,
स्वजन और स्वदेश-स्वरूप को
कर दियो इन आँखिन ओट हा ! ॥ २९ ॥

अब परै सुनि वाक्य यही हमें
‘धरहु, मारहु, सीस उतारहु’ ,
दिवस-रैन रहै सिर पै खरी
अति कराल छुरी अफ़ग़ान की ॥ ३० ॥

“पथिक हो, यह आश हिये धरे
मम वियोगिनि भामिनी को अर्जौं ,
अपर-लोक-पयान-प्रयास ते
मम समागम-संशय रोकि है ॥ ३१ ॥

“कहुँ यहीं इक मन्मथ गाँव है
जहँ घनी बसती विधु-वंश की ,
तहँ रहे इक विक्रमसिंह जो
सुवन ताम्रु यही रनवीर है ॥” ३२ ॥

कहत ही इन बैनन के तहाँ
मचि गयो कछु और हि रंग ही;
वदन अञ्चल-बीच छिपावती
वह परी गिरि भूतल भामिनी ॥ ३३ ॥

असम साहस वृद्ध कियो तबै
उठि धरन्यो महि में पग खाट तें,
“पुनि कहो” कहि बारहि बार ही
पथिक को फिर फिर निहारई ॥ ३४ ॥

आशा त्यागी बहु दिनन की नेकु ही में पुरावै
लीला ऐसी जगतप्रभु की, भेद को कौन पावे ?
देखो नारी सुकृत-फल को बीच ही माँहि पायो;
भूलो प्यारो, निज-प्रियतमा-पास, आयो सुहायो ॥ ३५ ॥

(१७७)

साहित्य-सेवा

(१)

सघन घन घटा में, चन्द्रमा की छटा में ।
तृण-रचित कुटी में, भव्य ऊँची अटा में ॥
कुछ लख सकते हैं भेद को वे कभी न ।
नियति-वश हुए जो जन्म से नेत्र-हीन ॥

(२)

नहिँ कह सकता है मूक आम्रादि-स्वाद ।
नहिँ वधिर सुनेगा त्यों विपञ्ची-निनाद ॥
विदित नहिँ जिन्हें हैं गूढ़ साहित्य-तत्त्व ।
प्रकटित करते वे व्यर्थ पाण्डित्य-स्वत्व ॥

(३)

कुछ दिवस न पाते जो कहीं काव्य-शिक्षा ।
नहिँ कर सकते वे कार्य की सत्समीक्षा ॥
यह प्रचलित होता जो न साहित्य-शास्त्र ।
हम सब तब होते सद्गुणों के न पात्र ॥

(४)

इस विपुल धरा में जो हुए ज्ञानवान ।
निज विविध गुणों से सर्वलोक-प्रधान ॥
१०

(१७८)

अब तक उनकी ये कीर्ति की स्वच्छ धारा ।
सब जगह बही है स्वच्छ साहित्य-द्वारा ॥

(५)

सुनकर अपने जो पूर्वजों के चरित्र ।
निज श्रुति-कुहरों को हो बनाते पवित्र ॥
प्रकटित करते हो मुग्ध हो प्रेमभाव ।
यह सब कुछ जानो काव्य ही का प्रभाव ॥

(६)

सुकवि चतुर माली काव्य-उद्यान बीच ।
जिस नव लतिका को है लगाता सुर्सीच ॥
बुध-भ्रमर उसीके प्रेम से पास जाते ।
भट रस-बस होके सर्वदा कीर्ति गाते ॥

(७)

उचित पथ बताती, पाप से है हटाती ।
अनुचित उचितों में भिन्नता को दिखाती ॥
इस सम अति मीठी ना सुधा है न मेवा ।
सुख अतिशय देती सत्य साहित्य-सेवा ॥

—हरिवंश मिश्र ।

पुस्तक-प्रेम

मैं जो नया ग्रन्थ विलोकता हूँ ,
भाता मुझे सो नव मित्र सा है ।
देखूँ उसे मैं नित बार बार ;
मानो मिला मित्र मुझे पुराना ॥ १ ॥

“ब्रह्मन् ! तजो पुस्तक-प्रेम आप ,
देता अभी हूँ यह राज्य सारा ।”
कहे मुझे यों यदि चक्रवर्ती ,
“ ऐसा न राजन् ! कहिए” कहूँ मैं ॥ २ ॥

अखण्ड भण्डार भरा हुआ है ;
सुवर्ण का जो मम गेह में ही ;
बताइए हे मम मित्र-वर्य्य ,
क्यों लूँ किसीके फिर दान को मैं ॥ ३ ॥

गिने हुए सज्जन-वृन्द का तो ,
कभी कभी मैं करता सुसज्ज ।
परन्तु है पुस्तक मित्र ऐसा ,
होता कभी जो मुझसे न न्यारा ॥ ४ ॥

इच्छा न मेरी कुछ भी बनूँ मैं ,
कुवेर का भी जग में कुवेर ।

इच्छा मुझे एक यही सदा है ,
नये नये उत्तम ग्रन्थ देखूँ ॥ ५ ॥

—गिरिधर शर्मा ।

शरीर-रक्षा

शरीर ही के हित काम सारे;
शरीर ही से सुख हैं हमारे ।
आत्मा नहीं धार्य बिना शरीर—
जैसे बिना पिञ्जर-बद्ध कीर ॥ १ ॥

शरीर से पुण्य परोपकार ;
शरीर ही है गुण का अगार ।
शरीर ही है सुर-लोक-द्वार;
शरीर ही से सुविचार-सार ॥ २ ॥

शरीर ही से पुरुषार्थ चार;
शरीर की है महिमा अपार ।
शरीर-रक्षा पर ध्यान दीजै;
शरीर-सेवा सब छोड़ कीजै ॥ ३ ॥

—महावीरप्रसाद द्विवेदी ।

(१८१)

ज्ञानोद्गार

(ग़ज़ल)

सब कहीं कुछ में समाया कुछ नहीं ।
कुछ न कुछ का भेद पाया कुछ नहीं ॥
मिल गया समझो पता उसका उसे
जानकर जिसने जनाया कुछ नहीं ॥
निधि मिली जिसको न परमानन्द की ।
उस अबुध के हाथ आया कुछ नहीं ॥
वह वृथा अनमोल जीवन खो रहा ।
धर्म-धन जिसने कमाया कुछ नहीं ॥
जब निरन्तर मेल “शङ्कर” से हुआ ।
कर सकी अनमेल माया कुछ नहीं ॥

—नाथूराम “शङ्कर” शर्मा ।

बुलबुल

प्रभात ही सुन्दर बैन मीठे
सुहावने तू नित बोलती है ।
प्रसून शाली-वन-बाग-बीच
सुडालियों में नित डोलती है ॥ १ ॥

पड़े पड़े बिस्तर में प्रभात
खुली नहीं है जब आँख मेरी ।
सूर्य-प्रभा की प्रथमा दशा में
देती सुनाई तब तान तेरी ॥ २ ॥

कभी कभी पुष्पित आम-डाल पै ,
समीप के पीपल पै कभी तू ।
कभी कभी दाढ़िम के द्रुमों पै
तू खेलती है वन में सदैव ॥ ३ ॥

पां पां प्रसूना सब मत्त
तुरन्त ही तू नित नाचती है ।
महा सुगीले सुर से पुनः पुनः
बता किसे नित्य पुकारती है ? ॥ ४ ॥

नये नये तू प्रकृति-प्रभा के
सौन्दर्य को नित्य निहारती है ।
हटाय उसके मुख से नवाम्बर
माना उसे आप उधारती है ॥ ५ ॥

उपवन वन में है वास तेरा सदैव ;
प्रतिदिन तरुओं पै तान मीठी सुनाती ।
अति ललित अनोखी, माधुरी-युक्त, प्यारी
सुरपुर-अवनी की तुल्यता तू दिखाती ॥ ६ ॥

अनुपम-उपमा की भाव-उत्पत्ति द्वारा
 कविवर-हृदयों को खूब ही तू लुभाती ।
 अति सरस, सुरीली बोलियों के बहाने
 अविरल-मधु-धारा कान में तू बहाती ॥ ७ ॥

सुकमल-कलियों को नींद से तू उठाके
 विकसित कुमुदाली को सदा तू सुलाती
 थकित शशि-कला के नित्य-विश्राम-हेतु
 स्वगृह-गमन की है तू बिदाई मनाती ॥ ८ ॥

आई क्या तू, सतनु उड़के स्वर्ग की वाटिका से
 भोगैश्वर्य्य-प्रणय-सुख का त्याग सारा सुवास ?
 आशा-तृष्णा-रहित मन से शान्त-एकान्त-वृत्ति—
 से जो तूने विजन वन में ही किया है निवास ॥९॥

होता आकर्षित मन अहो ! गान आनन्दकारी
 तेरा प्रातःसमय सुनके, मञ्जु माधुर्य्यधारी ।
 जारी होता जल नयन से अङ्ग में स्वेद आता ;
 है क्या तेरीःयह जग-वशी-कारिणी शक्ति भारी ? ॥१०॥

—सत्यशरण रतूड़ी ।

(१८४)

कवि-कीर्ति

जगत-विजेता वीर धरा सारी अपनावत ।
कर गहि खर करवाल महा-महिपाल कँपावत ॥
विक्रम विकट दिखाय सिंह कटि काटि गिरावत ।
रवि-सम प्रबल प्रताप आपनो अति फैलावत ॥
देश देश सविशेष ध्वजा निज उच्च उड़ावत ।
दुर्गम दुर्ग, अनेक सेतु, प्राचीर उठावत ॥
अति अद्भुत रमणीय राजधानी निरमावत ।
दै अपनो प्रतिरूप प्रचुर मुद्राहु चलावत ॥
पै ये एकहु नाहिं नाम चिरजीवि बनावत ।
कवि-कीरति के सौँह नम्र बनि शीश नवावत ॥
नृपति-सिकन्दर-चिह्न आज हम कहूँ न पावें ।
चन्द्रगुप्त को कहौ कहाँ हम ठाँव बतावें ॥
पै कविवर प्राचीन लखौ अबलौँ सब बोलत ।
उनके कृत इतिहास हमारे नयनन खोलत ॥
नृप-विक्रम की आज लोग कम कहत कहानी ।
कालिदास की किन्तु सुनत अति मीठी बानी ॥
हर्षदेव' की कथा हर्ष अब अधिक न देवै ।
किन्तु बाण को काव्य काहि नहिँ वश करि लेवै

अवशि पिथौरा-लाट^१ दिवस कोऊ ढहि जैहै ।
 किन्तु चन्द की सुयश-छटा छिति छिटकी रैहै ॥
 अकबर को वर नाम जगत जो प्रचलित भारी ।
 नेकु न तुलसीदास-अमरता कर अधिकारी ॥
 निज प्रतिभा में विगत बात प्रत्यक्ष दिखावत ।
 त्यों भविष्य को खैंचि लोक सन्मुख जो लावत ॥
 अति अन्तर्गत गूढ़ भाव हिय के जो जानत ।
 अद्भुत उक्ति सुनाय असम्भव सम्भव ठानत ॥
 जाके कृपा-कटाक्ष विलोकत लोक-विदित-नर ।
 दान-वीर, रण-धीर, तथा धन-धर्मवीर वर ॥
 कर्न^२ दान बिनु व्यास धर्म^३ की धर्मधीरता ।
 बालमीकि बिनु रम्य राम की विपुल वीरता ॥
 को जानत यहि भाँति सविस्तर आज विचारौ ।
 कहो होय जो कछु कथन अत्युक्ति हमारौ ॥
 उत्तम कविता-दान-अनूपम देत सदाहीं ।
 सबको सदा प्रसन्न करत कुछ लिये बिनाहीं ॥
 जासु ललित लेखनी विमल-मुद-वितरन-हारी ।
 अनुपमेय, जो अमर सदा स्वच्छन्द विहारी ॥

१ पृथ्वीराज चौहान की लाट, कुतुब-मीनार ।

२ विख्यात दानी कर्ज राजा । ३ धर्मराज युधिष्ठिर ।

गुन गनना के पार अहै जो ऐसो कविवर ।

नमस्कार है ताहि बार शत हाथ जोड़कर ॥

—काशीप्रसाद जायसवाल ।

अनुरोध

कवि कुछ ऐसी तान सनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आये ।
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि त्राहि रव नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छा जाये ॥
बरसे आग जलद जल जायें, भस्मसात भूधर हो जाये,
ज्ञानी-दण्ड टूटे उस महारुद्र का सिंहासन थराये ।
नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें ॥

—बालकृष्ण शर्मा “नवीन” ।

[‘सरोज’ से]

चलते समय

तुम मुझे पूँछते हो ‘जाऊँ ?’ मैं क्या जवाब दूँ ? तुम्हीं कहो,
‘जा’... कहते रुकती है जवान, किस मुँहसे तुमसे कहूँ ‘रहो ।’
सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्तिभाव दिखलाना था,
उन कृपा-कटाक्षों का बदला बलि होकर मुझे चुकाना था ।

सदा रूठती ही आई प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना,
वह मान बाण-सा चुभता है अब देख तुम्हारा यह जाना ।

—सुभद्राकुमारी चौहान ।

पत्नी-वियोग

ठीक साँझ का समय हुआ है, पशु-पक्षी आवैं उड़ि भौन ।
प्रिय पत्नी सुत-सन्तति से मिल सुख पाते हो जाते मौन ॥
वैसे ही मानवगण भी निज प्रिय पत्नी सुत पितु परिवार ।
मिलते-जुलते मुदमय होते सुखयुत सोते पाँव पसार ॥
ऐसे अति सख की वेला में हा ! हा ! मुझे अकेले छोड़ ।
कहाँ गई तू प्रिये ! आज इस भाग्यहीन जन से मुख मोड़ ॥
इस भीषण भव-अग्नि-ज्वाल से जलते हुए प्राण मेरे ।
किसके द्वारा हो सकते हैं शीतल प्रिये ! बिना तेरे ॥
मेरी जीवन-मरुस्थली में तू थी स्निग्ध सलिल का स्रोत ।
इस भवसागर के तरंग में तेरा मन था मुझको पोत ॥
तेरे बिना हुआ हा प्यारी ! सूना मुझको यह संसार ।
कानन-सदृश भयङ्कर भीषण ज्ञात हो रहा है घर-द्वार ॥
जिधर देखता उधर दीखते सुख में करते लोग विहार ।
इस विशाल भव में दुखिया मैं ही केवल, हा कष्ट अपार ॥
मरना तो जीवन की गति है उसके लिए वृथा है शोक ।
यह कह मुझको समझाते हैं सब जन मेरी दशा विलोक ॥

ज्यों ज्यों नर समझाते त्यों त्यों दुःख बढ़ता जाता भरपूर ।
 समझाने ही को सब जानें दुःख न कोई करता दूर ॥
 दुखिया ही दुःख अपना जाने नहीं दूसरे सकते जान ।
 मुख से रोना एक बात है, बात दूसरी जलना प्राण ॥
 देख हाल मम सुत दुहिता आ पास खड़ी हो जातो हैं ।
 घबरातीं पछतातीं फिर फिर मुझको फिर समझाती हैं ॥
 पिता, दुःख मत करो हरो तन-मन से यह दारुण सन्ताप ।
 हम हैं तो माँ भी जीती है दृढ़-मन होकर समझे आप ॥
 उनकी यह आश्वासन-वाणी यद्यपि धैर्य्य धराती है ।
 किन्तु कण्ठध्वनि उनकी प्यारी ! तेरा स्मरण कराती है ॥
 होते स्मरण प्रिये ! तेरा फिर जी व्याकुल हो जाता है ।
 देख देख व्याकुलता मेरी साहस भी घबराता है ॥
 जला रही मन विरह-अग्नि तव प्यारी ! हूँ मैं सच कहता ।
 सुत दुहितादिक नहिँ रहते तो मैं भी घर में नहिँ रहता ॥
 रो रोकर दिल धो धोकर अब प्यारी ! तुझसे कहता हूँ ।
 वृथा हाय अपमान जगत में हँसा हँसाकर सहता हूँ ॥
 “प्रिये प्रिये” करते तुम चाहे निशिदिन अश्रु बहाओगे ।
 इस अशान्ति-मय भव में तो भी शान्ति न मन ! अब पाओगे ॥
 रहो अहो मन ! मौन, कौन सुनता है दुःख, न कहो निज हाल ।
 गहो धैर्य्य, रति लहो धर्म की, सहो लिखा जो कुछ विधि भाल ॥
 —त्रिवेदी मालिकराम भोगहा (द्विजराज) ।

पितृ-वियोग

अहह तात ! सपने में भी यह मुझको था न ध्यान कभी ।
कि तुम महायात्रा कर दोगे अकस्मात् हा हन्त अभी ॥
खैर गये तो गये कहाँ हो बतलाया कुछ भी न पता ।
बिन अवलम्ब बचेंगी कैसे यह कौटुम्बिक विविध लता ॥१॥
आँखों से देखा है हमने जो जन जाता है परदेश ।
अवधि बाँधि सम्मति घर की ले साज बाज करते निशेष ॥
यह सांसारिक रीति सभी ने पाली, कभी न छोड़ी है ।
नहीं आपको आना क्या अब, यहाँ इसीसे तंड़ी है ॥२॥
भ्रातृ-कलत्र-बन्धु-भगिनी औ' नातेदारों का सब भार ।
मेरे अति असमर्थ शीश पर गिरा, सकूँ कैसे संभार ॥
पौरुष-हीन सहाय न कोई, भ्रष्ट भवन हो जावेगा ।
प्राणाधार पिता ! विघ्नों से मुझको कौन बचावेगा ॥३॥
“अन्धकार-आच्छादित मेरे जीवन का है तात निशेष” ।
जड़ता-वश मैंने चिरकालिक मानी यह आशीश विशेष ॥
हा ! परन्तु, ऐसे सुख भीतर इतना दुख जो रहा गड़ा ।
सच कहता हूँ, कभी न मुझको अनुभव इसका जान पड़ा ॥४॥
अगुण, अबुध, बल नहीं एक भी धीमी धार कुल्हाड़ी की ।
कटै कौन विधि जीवन-यात्रा, राह अगम इस झाड़ी की ॥
नहीं समझता था मैं कुछ भी और न सुनता था हित-मन्त्र ।
सावन के अन्धे को मानो हरा दीखता था सर्वत्र ॥५॥

तात ! तुम्हारे ही बल से मैं अहं-भाव से भरा हुआ ।
 फिरा किया उद्गण्ड बैल सा निज करतब से फिरा हुआ ॥
 तब मन की अभिलाषाएँ जो तुम्हें महा उपयोगी थीं ।
 मुझको निपट अयोग्य जानकर गईं साथ, सहयोगी थीं ॥६॥

तब भुज-अर्जित अमित सुखों का स्वतन्त्रता-संयुत कुछ भी ।
 मेरी बोधहीन आत्मा ने किया या नहीं भोग कभी ॥
 यह शङ्का उठती है अब तो मन में मेरे बारम्बार ।
 नहीं ठहरता है कुछ सत्यासत्य-युक्त सिद्धान्त विचार ॥७॥

चिन्ता ज्वर की, तात ! तपन सी दावा नित तन लगी रहे ।
 साहस पास नहीं आता है; करुणा केवल जगी रहे ॥
 शान्ति-प्राप्ति के हेतु अतः मैं जहाँ जहाँ टकराता हूँ ।
 उस ममता की दृढ़ डोरी से फिर तुरन्त खिँच जाता हूँ ॥८॥

कभी कभी कल्पना-जगत का होता हूँ मैं अधिवासी ।
 भ्रमण किया करता हूँ उसमें, आखिर हूँ सत्यानासी ॥
 व्याकुलता व्यापक होते ही समझे औ' समझावै कौन ?
 कभी अश्रुधारा बहती है, कभी बैठ रहता हूँ मौन ॥९॥

कहाँ गई वह मधुर सीख तब वत्सलता की पयस्विनी ?
 कहाँ अतुल दक्षता तुम्हारी त्रिविध-ताप-बाधा-हरनी ?
 जो अरण्य-रोदन सा मेरा यह विलाप हो रहा वृथा !
 क्या भूतात्मक तत्त्व न कोई बचा हाय ! आश्चर्य-प्रथा ! ॥१०॥

समझाते हैं लोग जहाँ जब वहीं कण्ठ भर आता है ।
सहानुभूति-प्रकाशक उनका वाक्य कहाँ धौं जाता है ॥
सोच सोच गुण-राशि रावरी पार नहीं मैं पाता हूँ ।
मन मानता नहीं, मैं यद्यपि बार बार समझाता हूँ ॥ ११ ॥
—अनन्तराम पाण्डेय ।

मेरी मैया*

किसने अपने स्तन से मुझको सुमधुर दूध पिलाया था ?
लेकर गोद, प्रेम से थपकी दे दे मुझे सुलाया था ?
चूम चूमकर किसने मेरे गालों को गरमाया था ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

बिलख बिलख कर रोता था जब नींद न मुझको आती थी;
आरी निंदिया ! आरी निंदिया ! कहकर कौन सुलाती थी ?
और प्यार से पलने में रख मुझको कौन झुलाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

बालपने में पलने ऊपर मुझे नींद जब आती थी;
मुख तेरा विलोक मन ही मन कौन महा सुख पाती थी ?
और प्यार के आँसू बैठी बैठी कौन बहाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

* James Tayler कृत My Mother का भावार्थ ।

व्यथित और बीमार देखकर मुझे कौन अकुलाती थी ?
वैठी वैठी मेरे मुख पर आँखें कौन गड़ाती थी ?
और मेरे मरने के डर से आँसू विपुल बहाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

मुझे गिर गया देख, दौड़कर तत्क्षण कौन उठाती थी ?
फिर मेरा जी बहलाने को बातें कौन बनाती थी ?
अथवा फूँक फूँककर अच्छी हुई चोट बतलाती थी ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

जिसने प्यार किया अति मेरा कैसे उसे भुलाऊँगा ?
नहीं स्वप्न में भी मैं उससे मन अपना विलगाऊँगा ?
गुण उसके गाकर मैं उससे अविरल प्रीति लगाऊँगा ?
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

साच साचकर इन बातों को जी मेरा घबड़ाता है ;
ईश-कृपा से यह शरीर यदि इस जग में बच जाता है ।
एक दिवस देखना दास यह फल इसका दिखलाता है ॥
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

कमर जायगी जब झुक तेरी और बाल पक जावेगा ;
मेरा भुज-लम्बा बलशाली तेरा टेक कहावेगा ।
और बुढ़ापे का दुख तेरा क्षण भर में विनसावेगा ॥
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

(१९३)

जब तेरा सिर शय्या ऊपर पड़े पड़े झुक जावेगा ;
तब इस सेवक की आवेगी वारी, तुझे उठावेगा ।
और, उस समय, प्रबल प्रेम से उमँगें अश्रु बहावेगा ,
मेरी मैया ! मेरी मैया !!

—जैनेन्द्रकिशोर ।

मातृ-वियोग

(१)

जन्म भी मेरा नहीं था तभी,
मम मंगल-कामना की बनी चेरी;
मेरे ही हेतु भिखारिनी हो जो—
लगाती थी देवों के द्वार पै फेरी ।

कष्ट उठाती थी नाम पै मेरे,
लुटाती थी जो सदा स्वर्ण की ढेरी ;
हा ! हा !! दर्ई किस लोक गई वह—
माता महाममतामयी मेरी !

(२)

अंश हूँ मैं जिसके तन का,
जिसने निज शोणित से उपजाया;

(१९४)

मांस के लोथड़े को जिसने—
निज दुग्ध पिला के मनुष्य बनाया ।

सोकर गीले में आप सदा मुझे—
सूखे ही में जिसने कि सुलाया ।

छाया भी ढूँढ़े नहीं मिलती,
हाय ! कहाँ वो गई महामाया ।

—कविवर “हितैषी”

जब नन्हा-सा मैं बच्चा था

तब सूरज मुझे जगाता था,
तब किस्से चाँद सुनाता था ।
तब पानी मेघ पिलाता था,
तब भूले मरुत भुलाता था ।

जब नन्हा-सा मैं बच्चा था ॥

फूलों से मेरी घातें थी,
सुख-स्वप्न-भरी तब रातें थीं ।
मनमोहक तब बरसातें थी,
अद्भुत छवि अनुपम घातें थी ।

जब नन्हा-सा मैं बच्चा था ॥

(१९५)

शुभ-चिन्तक मेरे तारे थे ।
वनदेव मुझे तब प्यारे थे ।

× × × ×

क्या भूले भूले सावन में ,
क्या निडर फिरा वन-उपवन में ।

जब नन्हा-सा मैं बच्चा था ॥

—मोहनसिंह 'दीवाना' ।

['बालक से']

प्रताप-विसर्जन

उन्नति सिर गिरिअवलि गगन सों उत बतरावत ।

इत सरवर पाताल भेदि अति छवि छहरावत ॥

मन्द पवन सीरी बहै होन लगे पतभार ।

पर्नकुटी नरसिंह लसत इक मानौ काँउ अवतार ॥

हरन भुवभार को ॥

मुखमण्डल अति शांत कान्तिमय चितवन सोहै ।

भरे अनेकन भाव व्यग्र चारिहुँ दिसि जोहै ॥

वीर मण्डली घेरि कै प्रभु की गति रहे जोहि ।

मनु भीषम सर-सयन परे कौरव पाण्डव रहे सोहि ।

हृदय नमङ्गो परै ॥

लखि निज प्रभु की अंत समय की वेदन भारी ।
व्याकुल सब मुख तकै सकै धीरज नहिं धारी ॥
राव सलूमर रोकि निज हिय उदवेग महान ।
हाथ जोरि विनती कियो अति हरुए लगि प्रभु कान ॥
बैन आरत सने ॥

“अहां नाथ अहो वीर-सिरोमनि भारत-स्वामी ।
हिन्दू-कीरति थापन में समर्थ सुभ नामी ॥
कहाँ वृत्ति है आपकी, कौन सोच, कहँ ध्यान ?
देखि कष्ट हिय फटत है, कहि सङ्कट में हैं प्रान ॥
कृपा करि कै कहो” ॥

सुनत दुख-भरे बैन नैन तिनके दिशि फेखों ।
भरि कै दीरघ साँस सबन तन व्याकुल हेरयो ॥
पुनि लखि सुत तन फेरि मुख अति संतप्त अधीर ।
धरि धीरज अति छीन सुर बोले बचन गँभीर ॥
परम आतङ्क सों ॥

“हे हे वीर-सिरोमनि सब सरदार हमारे ।
हे विपत्ति-सहचर प्रताप के प्रानपियारे ॥
तुव भुज-बल लहि मैं भयो रच्छा करन समर्थ ।
मातृभूमि-स्वाधीनता के प्रबल सत्रु करि व्यर्थ ॥
अनेकन कष्ट सहि ॥

(१९७)

“प्रानन हूँ ते प्रिय स्वतन्त्रता कब लौं खोई ।
हाय आर्यगन भए दास निज गौरव धोई ॥
स्लेच्छ विदेशी शत्रु के दास बनै करि गर्व ।
नश्वर-तन-सुख कारनै आर्य कीर्ति करि खर्व ॥
भूलि निज रूप को ॥

“या प्रताप नै उचित कहौ कै अनुचित भाखौ ।
वा स्वतन्त्रता हेतु जगत सुख तृन सम नाखौ ॥
ढाड़ महल खंडहर किये सुख सामान विहाय ।
छानि वनन की धूरि को गिरि गिरि मैं टकराय ॥
कुश को लेश नहिं ॥

“पै जब आवत ध्यान लह्यो जां सहि दुख इतने ।
सो अमूल्य निधि मम पाछे रहि है दिन कितने ॥
तुच्छ वासना में पग्यो दुःख सहन असमर्थ ।
चञ्चल अमरहिं देखि कै होत आस सब व्यर्थ ॥
सोचि भावी दसा ॥”

कहि दुखमय ये वचन अमर-तन दुख सों देख्यो ।
मूँदि नैन जल भरे स्वास लै सब दिशि पेख्यो ॥
सन्नाटा चहुँ दिशि छयो सबके मुख गंभीर ।
पृथ्वी दिशि हेरैं सबै भरे महा हिय पीर ॥
बैन नहिं कछु कढ़ ॥

(१९८)

करि साहस पुनि राव सल्लुमर सीस नवायो ।
अभिवादन करि अति विनीत ये वचन सुनायो ॥
पृथ्वीनाथ यह सोच क्यों उपज्यो प्रभु हिय आज ।
कुँअर बहादुर तैं परी कौन चूक केहि काज ॥
निरासा जो भई ॥

बदलि पास कछु सँभरि बैन परताप कह्यो पुनि ।
अति गंभीर सतेंज मनहुँ गुंजत केहरि धुनि ॥
“सुनौ वीर मेवार के गौरव राखनहार ।
मेरे हिय की वेदना जो कियो आस सब छार ॥
अमर के कर्म ने ॥

“एक दिवस एहि कुटी अमर मेरे ढिग बैठ्यो ।
इतनेहि में मृग एक आनि कै तहाँ जु पैठ्यो ॥
हरबराइ सन्धानि सर अमर चल्यो ता ओर ।
कुटिया के या बाँस में फँस्यो पाग को छोर ॥
अमर तौहुँ न रुक्यो ॥

“बढ़न चहत आगे वह पगिया खँचत पाछे ।
पै नहिं जिय में धीर छुड़ावै ताको आछे ॥
पागहु फटी सिकारहू लग्यो न याके हाथ ।
पटक पाग लख भोपड़िहिं अतिहिं क्रोध के साथ ॥
बैन मुख ते कढ़े ॥

‘रहु रहु रे निर्बोध अमर-गति रोकनहारे ।
हम न लेहिंगे सौंस बिना तोहि आज उजारे ॥
गजभवन निर्मान करि तेरो चिन्ह मिटाइ ।
जो दुख पाये तोहि मैं सो दैहौं सबै भुलाइ ॥

सुखद आवास रचि ॥’

“तबही तें ये बैन शूल सम खटकत मम हिय ।
यह परि सुखवासना अवसि दुख दिवस विसारिय ॥
अति अमोल स्वाधीनता तुच्छ विषय के दाम ।
बेचि सिसोदिय कीर्ति को यह करि है अवसि निकाम ॥
रुके हम सोच एहि” ॥

हिन्दूपति के बैन सुनत छत्री कोपे सब ।
अति पवित्र रजपूत रुधिर नस नस दौर्यौ तब ॥
लै लै असि दृढ़ पन कियो छ्वै छ्वै प्रभु के पाय ।
“जो लौं तन, स्वाधीनता तौ लौं रखौं बचाय ॥
सङ्क करिये न कछु ” ॥

दृढ़ प्रतिज्ञ छत्रिनपन सुनि राना मुख विकस्यो ।
आस-लता लहलही भई मुख ते यह निकस्यो ॥
“धन्य वीर तुम जोग ही यह पन तुमहिं सुहाइ ।
अब हम सुख सों मरत हैं, हरि तुम्हरे सदा सहाय ॥
यह आसीस मम” ॥

देखत देखत शान्ति-सदन परताप सिधाये ।
पराधीनता मेघ बहुरि भारत सिर छाये ॥
सब ही सुख परताप सँग कियो विसर्जन हाय ।
दीन हीन भारत रह्यो सुख सम्पदा गँवाय ॥

त्राहि प्रभु रच्छिए ।

—राधाकृष्णदास ।

वीर रानी दुर्गावती

आइ लखहु सब वीर कहा यह परत लखाई ।
बिना समय यह रेनु रही आकाश उड़ाई ॥
ये वन के मृग डरे सकल क्यों आवत भागी ।
इहाँ कहँहूँ लगी नहीं है देखहु आगी ॥
यह दुन्दुभि के शब्द सुनो यह भीषण कलरव ।
यह घोड़न को टाप शिलन पर गूँज रही अब ॥
आर्य रुधिर हा एक बेर ही सोवत जान्यो ।
अबला शासक मानि देश जीतन अनुमान्यो ॥
शेष रुधिर के बूँद एक हू जब लगि तन महुँ ।
को समर्थ पग धरन हेतु यहि रुचिर भूमि महुँ ॥
तुरत दूत इक आय सुनायो समाचार यह ।
आसफ़ अगनित सैन लिये आवत चढ़ि पुर महुँ ॥

छिन छिन पर रहि दृष्टि सकल वीरन दिसि धावति ।
कँपत गात रिस भरी खड़ी रानी दुर्गावति ॥
श्वेत वसन तन, रतन मुकुट माथे पर दमकत ।
श्रवत तेज मुख, नयन अनल कण होत बहिर्गत ॥
सुघर वदन इमि लसत रोष की रुचिर झलक ते ।
कञ्चन आभा दुगुन होत जिमि आँच दिये ते ॥
चपल अश्व की पीठ बीर रमणी यह को है ?
निकसि दुर्ग के द्वार खड़ी बीरन दिसि जोहै ॥

वाम कंध बिच धनुष, पीठ तरकस कसि बाँधे ।
कर महँ असि के धरे बीर बानक सब साधे ॥
चुवत वदन सन तेज और लावण्य साथ इमि ।
है मनहर संयोग वीर शृङ्गार केर जिमि ॥

नगर बीच है सेन कढ़ी कोलाहल भारी ।
पुरवासिन मिलि बार बार जयनाद पुकारी ॥
सम्मुख गज आसीन निहार्यो आसफख़ाँ के ।
महरानी निज बचन अग्रसर कियो ताहि के ॥

“अरे कुटिल ! रे दुष्ट ! महा अभिमानी पामर !
दुर्गावति के जियत चहत गढ़ मंडल निज कर ॥
भीरु यवन की “हरम” केर अबला हम नहीं ।
आर्य्य नारि नहिं कबहुँ शस्त्र धारत सकुचाहीं ॥”

चमकि उठे पुनि शस्त्र दामिनी सम घन माहीं ।
भयो घोर घननाद युद्ध को दोउ दल माहीं ॥
“दुर्गा”-वन् निजकर कृपान धारन यह कीने ।
दुर्गावति मन-मुदित फिरत बीरन सँग लीने ॥
सहसा शर इक आय गिर्यो ग्रीवा के ऊपर ।
चल्यो रुधिर बहि तुरत, मर्त्यो सेना बिच खरभर ॥
श्रवत रुधिर इमि लसत कनक से रुचिर गात पर ।
छुटत अनल परवाह मनहुँ कोमल पराग पर ॥
चंचल करि निज तुरग सकल बीरन कहँ टेरी ।
उन्नत करि भुज लगी कहन चारिहु दिशि हेरी ॥
“अरे बीर उत्साह भंग जनि होहि तुम्हारो ।
जब तग तन मधि प्राण पैर रन से नहिं टारो ॥
लै कुमार को साथ दुर्ग की ओर सिधारहु ।
गढ़ को रक्षा प्राण रहत निज धर्म विचारहु ॥
यवन सेन लखि निकट, लोल लोचन भरि वारी ।
गढ़ मंडल ये अंत समय की बिदा हमारो ॥”
यां कहि हन्यो कटार हीय बिच तुरत उठाई ।
प्राण-रहित शुचि देह पखो धरनी-तल आई ॥

—रामचन्द्र शुक्ल ।

(२०३)

राखी

बाँध रही हो स्नेह-भरे बंधन में क्यों ये प्राण ,
बहन ! करूँगा मैं दुर्बल मनुष्य क्या तेरा त्राण ?
अरी शक्ति की धात्री ! आज जला इतने अँगार ,
जल जाये जिसमें स्वदेश का नीरव हाहाकार !

बेड़ी में भंकार सुन पड़े, इसका हूँ अभिलाषी ,
जीवन की पतवार पकड़ ले आज स्नेह की राखी ।

—श्रीरामनाथलाल 'सुमन' ।

अन्योक्तियाँ

(१)

यहाँ साधु असाधु सुजाति कुजाति को भेद न कोऊ विचार करें ;
द्विज श्याम जू ये अविवेकी अमी औ हलाहल एक में घोरि धरें ।
तजै पारस औ गह्वै पाथर धाय लखे इनके मुख पाप परें ;
तजियो यहि देश को यासों मराल भले न इतै पग भूलि धरें ॥

(२)

थल सूनो जहाँ द्विजश्याम मिलैं बहु योजन लों जल को न पता;
अति तीखी प्रभाकर की किरणें करैं छार जहाँ लागि लोनी लता ।
तहाँ कर्म जँजीरन सों जकरो गज आय पख्यो वश लोलुपता;
बिनु नीरद के अब ऐसै समय पर कौन सों याँचै सहायकता ॥

(२०४)

(३)

विधि भाग हमारे लिखे दुख जो तेहि में अब काह विचारिबो है;
द्विजश्याम जू रावरे सों करि नेह सदा अँसुवान का गारिबो है ।
तुम केता करो निठुराई तऊ हिय और कछु नहिं धारिबो है;
हमको नित नीरद पी कहाँ पी कहाँ जीवन औधि पुकारिबो है ॥

(४)

एहो नीरधर हम नेहधर चातक हैं,
रटनि हमारी घटिहै न, कहै फेरि फेरि ।
और कैसी दौर हम दोगिहैं न दौर दौर,
द्विजश्याम गुमन-समूहन को घेरि घेरि ।
चुनि कै अँगारन चकार तौर लैहै नाहिं,
मोरहूँ को तौर लै न नाग खैहैं हंरि हंरि ।
प्यास मरि जैहैं, द्वार और के न जैहैं, योंहो,
जनम बितैहैं नाम रावरा ही टेरि टेरि ॥

—श्यामनाथ शर्मा ।

अविचार

सिन्धु रत्नागार है, कौस्तुभ दिया तो क्या किया ?
किन्तु उसको आपने अपना निवास बना लिया ।
पङ्क ने तो कमल ऐसा रत्न अर्पण कर दिया,
हाय, उसको आपने इतना मलिन कैसे किया ।

—पदुमलाल बक्षी ।

कृतघ्नता

चन्द्र हरता है निशा की कालिमा,
हृदय की देता उसे ही लालिमा ।
किन्तु होकर लोकनिन्दा से अशङ्क,
निशा देती है उसे अपना कलङ्क ।

—पदुमलाल बक्षी ।

पुस्तकावलोकन-प्रेमी विद्वान्*

मृत पुरुषों के संग सर्वदा दिन मेरे सब जाते हैं ।
जहाँ देखता वहीं पुराने पण्डित मुझे दिखाते हैं ॥
मेरे परम मित्र वे, उनसे दूर नहीं मैं जाता हूँ ।
प्रति दिन मैं उनसे ही बातें करने में सख पाता हूँ ॥
सुख में उनकी ही संगति से सुख मेरा अधिकाता है ।
दुख में उनके आश्वासन से खेद दूर हो जाता है ॥
इन सबके कृत-उपकारों का स्मरण मुझे जब आता है ।
अश्रु-बिन्दुओं से कपोल-दल गीला हो हो जाता है ॥
सुधि उनकी कर, साथ उन्हीं के पूर्व-काल में रहता हूँ ।
कर उनके गुण-गान, अवगुणों को मैं दूषित कहता हूँ ॥

❀ Southey कवि कृत Scholar नामक पद्य का भावानुवाद ।

उनके भय, उनकी आशाएँ बाँट सभी मैं लेता हूँ ।
बन विनम्र, उनके चरितों से मन को शिक्षा देता हूँ ॥
मृत विद्वानों ही से मुझको आशा, उनपर ही विश्वास ।
उनकी ही संगति में मेरा होगा अन्त चिरन्तन वास ॥
उनका ही सहचर भविष्य में बन, मैं समय बिताऊँगा ।
आशा है, अविनाशी यश मैं छाँड़ विश्व में जाऊँगा ॥
—श्रीमुरलीधर ।

युवक

जान हो भारत की तुम लाल !
सदा दुखियों के कराल कृपान हो ।
पान हो जो प्रण पालता प्राण दे,
आन पै जो मरता सो गुमान हो ॥
मान हो मानियों के निधनी के,
ललाट विधान की अंकित शान हो
शान हो तेज भरी द्युतिहीन की,
क्या हुआ, आज निरे अनजान हो ॥
—मातादीन शुक्ल ।

['युवक' से]

(२०७)

बीणा

सहि कलेस निज अंग पर औरन दयो प्रमोद ।

याही सों सरसुती नैं बीना धारी गोद ॥

आप कलेस सहै घने औरन सुख सरसात ।

बीना तेरी बानि पर मम मन बलि बलि जात ॥

—कृष्णविहारी मिश्र ।

राम

(१)

सत्पुरुष-पुङ्गव, सत्यवादी, संयमी श्रीराम थे ।

प्रतिभा-निधान, पराक्रमी, धृति-शील सद्गुण-धाम थे ॥

परम-प्रतापी, प्रजा-रंजन, शत्रु-विजयी वीर थे ।

ज्ञानी, सदाचारी, सुधी, धर्मज्ञ, दानी धीर थे ॥

कल्याणकर उनके सभी शुभ लक्षणों को धार लो ।

पढ़ मित्र पूर्ण पवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥

(२)

श्रुति-तत्त्व-वेत्ता, सत्य-मन्ध, कृतज्ञ, गौरवान थे ।

संसार के हित में सदा तत्पर, महा विद्वान थे ॥

निस्पृह, प्रजा-प्रिय, नय-निपुण, अभिराम, अवगुणहीन थे ।

आदर्श आर्य, उदार, करुणा-सिन्धु, शुचि, शालीन थे ॥

(२०८)

वे सदा सर्व प्रकार से हैं पूजनीय, विचार लो ।
पढ़ मित्र पूर्णपवित्र रामचरित्र जन्म सुधार लो ॥

(३)

श्रीराम ने जो कर दिखाया धर्म के विश्वास में ।
ऐसा न अन्य उदाहरण है जगत के इतिहास में ॥
दृढ़ हो उन्हीं के पुण्य-पथ पर चाहिए चलना हमें ।
हम आर्य हिन्दू-मात्र रामचरित्र-कानन में रमें ॥
होगा इसीसे देश का कल्याण सम्मति-सार लो ।
पढ़ मित्र पूर्णपवित्र रामचरित्र जन्म सधार लो ॥

(४)

उन सद्गुणी की जीवनी को लक्ष्य अपना मान लें ।
आओ, सखे ! सत्कर्म का सङ्कल्प मन में ठान लें ॥
श्रद्धा-सहित हम उस महात्मा का निरन्तर नाम लें ।
इस लोक से उद्धार पाकर स्वर्ग में विश्राम लें ॥
भ्रम त्याग “रामनरेश” उर में भक्ति-रश्मि प्रसार लो ।
पढ़ मित्र पूर्णपवित्र रामचरित्र जन्म सधार लो ॥

—रामनरेश त्रिपाठी ।

[‘सरस्वती’ से]

(२०९)

वीर-धर्म

पुरखों के बड़े बोल की इज्जत का बचाना,
माता व बहन बेटी का सतधर्म रखाना ।
निज धर्म व सुरधामों का सनमान बढ़ाना,
तीरथ व महाधामों का सतकार कराना ।
इन कामों में गर जान का डर हो ता न डरिये,
क्षत्रो का परम धर्म है यह ध्यान में धरिये ।

—जाला भगवानदीन “दीन” ।

जौहर-व्रत

लिखे न केते सुमृति में व्रत विधान सविवेक ।
पै जग जाहिर जंग कौ व्रत जौहर बस एक ॥
क्यों न धारिये सीस पै वा जौहर-व्रत-राख ।
भव-तनु-भूषण भसम ते' जो पुनीत गुण लाख ॥
भई' भसम चित्तौर-तिय जेहि मधि-धरम समोय ।
यज्ञ-अनिल ते' हूँ अधिक पावन पावक सोय ॥
केहि कारण सेवत सुरुचि नित नवीन समसान ।
जौहर की जहँ तहँ भसम ढूँढत शंभु मुजान ॥
जा दिन जौहर ते' प्रबल जगी ज्वाल अति चंड ।
जन-हीतल शीतल करन प्रकट्यो जगु ही खंड ॥

—वियोगी हरि ।

[“मनोरमा” से]

छत्राणी की वाञ्छा

धन्य होगी वह जीवन-घड़ी
शत्रु से लड़ने तू चल पड़े ।
मातृ-भू को बिन किये स्वतन्त्र
नहीं तुझको पल भर कल पड़े ॥
और जिस दिन तेरी मा अहा !
हाथ में देवे भाला तुझे ।
न मन्मुख कोई भी अड़ सके
देख ले विश्व निराला तुझे ॥
करोड़ों तेरे साथी बनें
देखकर रण-मतवाला तुझे ।
और माता की बाहें वही
पिन्हा देवे जयमाला तुझे ॥
—सुभद्राकुमारी चौहान ।

वीर-वचनावली

निज बल से बलि के बन्धन को तोड़ न सका पैठ पाताल ।
शशि-कलङ्क मैंने नहीं मंटा, मेरे हाथों मरा न काल ॥
शेष-शोश से धरा छीनकर, ले न सका सिर उसका भार ।
शत्रुशमन कर सका न अपना, लाख बार मुझको धिक्कार ॥१॥

भीम-भुजङ्ग-ओष्ठ चुम्बन कर, नश्वर देह दीजिए मेट ।
 चाहे कालकूट को पीकर शीघ्र कीजिए यम से भेंट ॥
 या गिरिवर से गिरकर करिए लाखों टुकड़े अपना माथ ।
 पर कभी न जीते जी खल के सम्मुख चल पसारिये हाथ ॥२॥

अपने प्रण से वीर न टलते चाहें उन्हें डालिये पीस ।
 नेम निबाहेंगे वे अपना जब तक उनके धड़ पर शीश ॥
 शिरच्छेद हो जाने पर भी धन्य ! राहु तू अद्भुत वीर ।
 सूर्य चन्द्रमा दोनों का जो प्रसता तू तेजसी शरीर ॥३॥

खाकर जिसे उगल देते हैं फिर उसको ही खाते श्वान ।
 छोड़ दिया है जिसे उसे फिर, छूते कभी नहीं मतिमान ॥
 प्राणों ही के साथ सर्वदा प्रण भी उनका जाता है ।
 शीतल कभी न होता पावक, बुझ जरूर वह जाता है ॥४॥

जरा उछलने से मछली के वारिधि चाहे कँप जावे ।
 मृग-शिशु के चलने से फटकर धरणी चाहे धँस जावे ॥
 लघुतम लवा देख खगपति भी अति भयार्त्त भग सकता है ।
 वज्रपात से भी न वीर का हृदय कभी हिल सकता है ॥५॥

खाकर लात शांत जो रहते साधु नहीं वे पूरे मूढ़ ।
 मारो लात धूल पर देखो हो जावेगी सिर-आरूढ़ ॥
 रिपु से बदला लिये बिना ही कायर नर रह जाते हैं ।
 तेजस्वी जन उसके सिर पर पद रख यश फैलाते हैं ॥६॥

शान्त-चित्त सीधे लोगों का करते हैं जो जन अपमान ।
 दारुण फल उसका मिलता है उनको, मानो वचन प्रमाण ॥
 किसे नहीं है विदित विश्व में चन्दन का शीतत्व स्वभाव ।
 पर घर्षण से प्रकटाता है वह भी अपना दाहक-भाव ॥ ७ ॥
 त्रिभुवन हो जाता है आँगन जिन्हें प्रतिज्ञा की है लाज ।
 अपने ही बल का बल रखते नहीं चाहते साज समाज ॥
 पहिया एक विषम घोड़े हैं बिना पैर का गाड़ीवान ।
 नित ही नभ में तो भी रथ के दौड़ाते हैं रवि भगवान ॥ ८ ॥
 सच्चा तेजस्वी जो होगा कभी न झोड़ेंगा निज बान ।
 वज्रहृदय रोकर सह लेगा सुख-दुख मान और अपमान ॥
 बलती हुई आग का नीचे मुँह लटकाओ, पर तब भी ।
 ऊपर के ही लपट जायगी नीचे के वह नहीं कभी ॥ ९ ॥
 धीर-धुरीण लोग जो चाहें कर लेंगे वह काम जरूर ।
 जरा नहीं वे कभी करेंगे हानि-लाभ से ग्लानि जरूर ॥
 श्री पाकर के हँसे न सुर सब विष पाकर नहीं शोक किया ।
 चलें गये वारिधि के मथते जब तक नहीं पीयूष पिया ॥ १० ॥
 न्यायपरायण जो नर होगा उसकी कभी न होगी हार ।
 कपटी कुटिल कंठि रिपु उसके हो जावेंगे क्षण में द्वार ॥
 पाण्डव पाँच रहे, कौरव सौ, राम एक थे, निशिचर लक्ष ।
 विजयी वे ही हुए, देख लो, न्याय-युक्त था जिनका पक्ष ॥ ११ ॥

पुनः करो उद्योग †

देखो बात याद यह कर लो; पुनः करो उद्योग ।

यदि तुम सफल न पहले हो तो —पुनः करो उद्योग ॥

साहस को दिखलाओ अपने, क्योंकि सदा साहस ही से ।

जीत सकेगे, भीत न होना, पुनः करो उद्योग ॥ १ ॥

बार एक दो सफल न हो यदि पुनः करो उद्योग ।

विजय चाहते हो जो तो तुम पुनः करो उद्योग ॥

कोशिश करने में क्या लज्जा ? यदि न सफलता आवे हाथ ।

तो क्या करना तुम्हें चाहिए ? पुनः करो उद्योग ॥ २ ॥

काम कठिन जो जान पड़े तो पुनः करो उद्योग ।

समय सफलता देगा तुमको, पुनः करो उद्योग ॥

जिसे सभी करते हैं उसको धीरज धर तुम क्यों न करो ?

इसी नियम को सदा याद रख, पुनः करो उद्योग ॥ ३ ॥

—गोविन्दशरण त्रिपाठी ।

स्वागत

नव-पल्लव, नव-सुमन सुसज्जित

नव-उपवन शृङ्गार प्रणाम !

† Try Try Again का अनुवाद ।

नव ऋतुपति नव प्रकृति कण्ठ के
नव-निहार-मणिहार प्रणाम !!

नव-उत्साह-भरित नवयौवन
नव समीर संचार प्रणाम !

नव फल, नवदल, नव जल कलकल
नव वसन्त व्यापार प्रणाम !!

नये-नये भावों से भूषित,
प्रकृत-महा-कवि आओ !

नव-उन्माद तेज जीवनमय
नव्य गीत कुछ गाओ !!

—पाण्डेय बेचन शर्मा “उग्र” ।

[“नारायण” से]

प्रतिज्ञा

पर-निन्दा ठगपनो कबहुँ नहिँ चोरी करिहैं ।
जन्तुन को दै पीर कबहुँ नहिँ जीवन हरिहैं ॥
मिथ्या अप्रिय वचन नाहिँ काहूँ सन कहिहैं ।
पर-उपकारन हेत सबै विधि सब दुख सहिहैं ॥
होइ सुबांध सुशील शान्त अरु नम्रहि रहिहैं ।
मात पिता गुरु देव भक्ति को निशिदिन गहिहैं ॥

भाई भगिनी इष्ट मित्र को सब दुख सहिहैं ।
तिनहि सुखी लखि निजहु सुखोदधि मञ्जन लहिहैं ॥
कोढ़ी लूले अन्ध आदि लखि करुणा करिहैं ।
चलिहै जो कोउ कुमग ताहि लखि अधिक निवरिहैं ॥
सुमति सिसुन के सङ्ग साधुशिक्षा हम सिखिहैं ।
भले भले उपदेश सबै निज निज हिय रखिहैं ॥
करिहैं चरित पवित्र बात सब सौँचहि कहिहैं ।
आर्य्य सनातन धर्म-मार्ग में सब दिन रहिहैं ॥
भारत ही के भाव रसन में मगनहु छै हैं ।
भारत ही की जय जय धुनि ऊँचे सुर कैहैं ॥
भारत ही में लियो जन्म भारत ही रहिहैं ।
भारत ही के भाव धर्म अरु कर्महु गहिहैं ॥

—अम्बिकादत्त व्यास ।

अनुरोध

फूलो फूलो जगत के कण कण मंगलमय हो तुम्हें वसन्त
पर क्यों छेड़ जगाते हो इस उर के तम्र उसास अनन्त ॥
रहें सुखी जो सुखिया हों पर करें न दुखिया का उपहास
व्यथित हृदय की करुण सिसक पर हँसे न जगका विभव विलास ।

—जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ।

जीवन-चिन्ता*

नींद तजि रे आत्मा ! टुक खोल चिन्ता-नैन ।
देखु देखु, विलम्ब को अब समय रञ्चहु है न ॥
मृत्यु-सिन्धु-तरङ्ग भेंटन हेत व्याकुल होत ।
लखहु, कस निःशब्द धावत प्रखर जीवन-स्रोत ॥ १ ॥

जात वाही स्रोत के संग वेग सों किमि भासि ।
सुभग जीवन को अतुल सुख सम्पदा की राशि ॥
स्मरण करि जेहि नर दुखित चित तजत शोक-स्वास ।
मोचि सोचि अतीत हित पुनि व्यर्थ होत उदास ॥ २ ॥

होत निद्रा-भङ्ग तैं जिमि स्वप्न को अवसान ।
लीन त्यों छिन माहिं होवत दम्भ मद अभिमान ॥
जगत आडम्बर अहै बुद्बुद सद्दश निःसार ।
प्रसत सबहीं काल-मुख कट्टु करत नाहिं विचार ॥ ३ ॥

होत नित आकृष्ट सिन्धु-तरङ्ग-मुख प्रति सोइ ।
जगत सब (इक गुप्त विधि सों, ज्ञात जौन न होइ) ॥
मृदुल निर्भरिणी, महाम्रोतस्वती विकराल ।
दीन हीन मनुष्य, सबल महायशा महिपाल ॥ ४ ॥

* राय राधानाथ रायबहादुर और राव मधुसूदन रायबहादुर कृत
एक ओड़िया पद्य का अनुवाद ।

कपट-माया-शैल सों भव-सिन्धु है परिपूर्ण ।
 होत है आशा-तरी जहँ खाइ टक्कर चूर्ण ॥
 कामना पतवार होवत विफल फिर तेहि काल ।
 चित्त नाविक को भखत नैराश्य मगर कराल ॥ ५ ॥

जगत-लोचन मान-मोचन रमणि को छवि-सोत ।
 बिम्बरक्ताधर नयन को रम्य मोहन जोत ॥
 स्वर्ण-धन सम वक्ष आनन चन्द्र देखि लजाहिं ।
 इन्द्र-धनु-शोभा-सदृश दुरि जात सब छिन माहिं ॥ ६ ॥

युवक-गन को नयन-नन्दन तेज अरु बल-बुद्धि ।
 ज्ञान-प्रौढ़न का विमल, शुभ कार्य अरु मन-शुद्धि ॥
 विफल होवत काल गालहिं परि सकल गहि मौन ।
 कहहु यहि संसार में है स्थिर अचञ्चल कौन ? ॥ ७ ॥

भाग्य देवी की कृपा सों करत सुख-संभोग ।
 मान-धन जस-विभव बहु जो लहहिं जग के लोग ॥
 वक्र काल कुचक्र में परि सोउ छिनहीं माहिं ।
 लेइ निज निज राह वेगहिं त्यागि नर को जाहिं ॥ ८ ॥

विश्व-मोहन मति-विमोहन काम-केलि-विलास ।
 करत यद्यपि जात मन में है छनिक उल्लास ॥
 गुप्त भाव प्रभाव सों तनु घाव भरि रुज शूल ।
 करत बल को हास सब गुन नाश कै निर्मूल ॥

कपट माया जन्त्र सों करि मन्त्र-मुग्ध ममान ।
 नरन को परतन्त्र, विप्लव-रिपु^१ करत निर्मान ॥ ९ ॥
 सोइ विप्लव^२ देह आत्मा-राज्य में फैलाइ ।
 धर्म के राजत्व, प्रज्ञा-तत्त्व देत नसाइ ॥
 पाप भैरवरूप धरि पुनि देत बहु सन्ताप ।
 यहि उपद्रव देखि भागत शान्ति आपुहि आप ॥ १० ॥
 मुकुट-मण्डित राज सिरहूँ शान्ति आस्पद नाहिं ।
 विपद भय शङ्का बसत नित नरपतिन मन माहिं ॥
 रहत अस्थिर भ्रान्तिपूरित नृप हृदय गम्भीर ।
 राज-आसन माहिं आज जु काल सोइ फकीर ॥ ११ ॥
 कहहु यहि संसार में सुख शान्ति काको आहि !
 देत लोभ विरोध के दल अनल सम जग दाहि ॥
 असंतोष घमण्ड पूरित चण्ड रोष समाज ।
 मोह मत्सर आदि रिपु नित हरत जन-सुख-साज ॥
 हरन करि सुख साज पुनि दुख-चरन तल दरि धूरि ।
 मरन मुख में भोंकि देवत नरन पातक-शूर ॥ १२ ॥
 मिलत जग में शान्ति कहँ, कहँ नित्य सुख के वास ?
 लहन हित जेहि बरत नित, सहि गहन दुःख-बतास ॥

१ रिपुओं का विप्लव (काम-क्रोधादि षड्रिपुओं की प्रबलता) ।

२ वह रिपुओं (काम-क्रोधादिकों) का विप्लव आत्मा-रूपी-राज्य में अपनी देह फैलाकर ।

चित्त गृह में, हरत आशा-दीप तम-सन्ताप ।
 बिसरि हों कहँ गये मैं यह मृत्यु-भय, दुख, पाप ! ॥ १३ ॥

रे हृदय ! जनि होहु कानर, निरखि आपुहि आप ।
 भव विडम्बन, यातना, कटु पाप, दुख, सन्ताप ॥
 विपद दुर्दिन है सतावत जगत में नहिं काहि ।
 परि निराशा विषम विष में होहु जजर नाहिं ॥ १४ ॥

गहहु रे मन ! सान्त्वना अरु लहहु धीरज मीत ।
 सहहु दुख सुख, दहहु जनि हिय गाइ दुख संगीत ॥
 है सु पारस मनि महाधन कामना जेहि केर ।
 करत उद्दीपन सतत हिय आस फेरहिं फेर ॥ १५ ॥

होहु थिर रे चपल मन, यहि ओर दुक चित देहु ।
 जीव की शिक्षा परम शुचि तत्त्वदीक्षा लहु ॥
 तबहिं प्राणाराम धन वह मिलहि तोहि ललाम ।
 करत आकुल हृदय जाकी खाज आठों याम ॥ १६ ॥

मर कलेवर धूल को यह निपट निन्दित तुच्छ ।
 (अहै मानव-जीव उद्भव किन्तु अचरज गुच्छ) ॥
 अमर आत्मा बसत तिहिं माँ रूप धरि अभिराम ।
 पङ्कमय सर माहिं सोहत कमल जिमि छवि-धाम ॥ १७ ॥

गाढ़ तम सों सतत आवृत यह निखिल संसार ।
 होत जीवात्मा न विकसित पड़े ताहि मँभार ॥

खोय अपनी दिव्य शोभा, भक्ति, प्रेम, ज्ञान ।
कमल सम, है रहत तम में म्लान मुख म्रियमान ॥ १८ ॥

हांत लखि रवि के गगन महुँ पद्म ज्यों उत्फुल्ल ।
जीव-आत्मा ताहि विधि लभि ईश होत प्रफुल्ल ॥
पाप-तम सों पूर्ण दुखमय भुवन यहि विकराल ।
हांत उज्ज्वल परत विभु को पुण्य-रवि-कर-जाल ॥ १९ ॥

देवगन जहुँ करत मधुमय अमृत सुख सों पान ।
ईश के पद-कमल-ढिग लभि शान्तिभय निर्वाण ॥
जहुँ न धधकत मृत्यु-पातक-रोग-रूपी आगि ।
नित पिपासित रहत आत्मा सोइ धामहि लागि ॥ २० ॥

यहि पिपासा के निवारन कबहुँ होवत नाहिं ।
प्रबल निसिदिन करत है हा ! पारथिव जल ताहि ॥
धर्म केवल अमृत वारि निचोरि तापै अन्त ।
करत छिन में शान्ति शीतल अनल सोइ ज्वलन्त ॥ २१ ॥

अरे अस्थिर हृदय तब फिर व्यर्थ काको सोच ।
त्यागु कुस्मित वासना लखि समय आयो पोच ॥
प्राण-दाता विश्व-धाता अमृत मङ्गल धाम ।
करहु रें आराधना तेहि ईश की निष्काम ॥ २२ ॥

पाप के परिहरि प्रलोभन करु विमल विश्वास ।
नाशि स्वार्थ घमण्ड निर्मल करहु हृदयाकास ॥

चित्त को एकाग्र करि तजु कपट बैर विवाद ।
तबहि लहिहै रे जगत में धर्म-रस को स्वाद ॥ २३ ॥
प्रीति-मय जीवन रतन लखि देइहैं परमेश ।
तोहि करुणा करि अमृत-मय परम पावन देश ॥
कर्म साधहु, चित्त करि निज स्वार्थ-रहित पवित्र ।
जगत-हित-लखि देहु जीवन, होहु जग के मित्र ॥ २४ ॥

विपद-गञ्जन हे निरञ्जन, भय-विभञ्जन-हार ।
पतित-तारण आदि कारण ईश विश्वाधार ॥
तुमहि प्रभु ! सन्तप्र-जन-मन-हेतु चन्दन-रूप ।
तुमहि विश्व-विपाक्त-लोचन-हेतु-अञ्जन-रूप ॥ २५ ॥

नाथ ! आवहु अगति की गति विघ्न-नाशनहार ।
मरत तुम बिन जगत में मैं करत हाहाकार ॥
परत मोहिं न सृष्टि कछु है जरत मन दिनरात ।
बरत हा ! रुज अनल हिय महँ हरत बल बुधि जात । २६ ॥
बेगि तारहु मोहि हरि ! करि सुमति हिय संचार ।
विदित जग में दया अरु तुव शक्ति अपरम्पार ॥

—लोचनप्रसाद ।

ग्रीष्म का अन्तिम गुलाब*

खिलता ही रह गया ग्रीष्मऋतु के गुलाब का यह एक फूल ।
 उसके सब साथी कुम्हिलाकर गिरे भूमि पर हो निर्मूल ॥
 रहा न कुसुम, कलौ भी कोई रह न गई है इसके पास ।
 सहानुभूति दिखाने अथवा करने को सुस्नेह विकास ॥ १ ॥

छोड़ूँ गा न अकेला तुझको डाली पर मुरझाता अब ।
 सो जा सङ्ग साथियों के तू सोते जा क्यारी में सब ॥
 अतः दया कर बिथराता हूँ क्यारी में मैं तेरे पात ।
 जहाँ पड़े हैं तेरे साथी वे-सुवास कुम्हलाये गात ॥ २ ॥

इसी तरह मैं भी उठ जाऊँ मित्रादिक जब जावेँ बीत ।
 मित्र-मंडली की माला से मोती से जब टूटेँ मोत ॥
 सुहृद-शिरोमणि-वर्ग कुसुम-सम जब सब कुम्हिला जाता है ।
 इस असार अधियारे जग में रहना किसको भाता है ॥ ३ ॥

—हरिवल्लभ ।

ग्रीष्म काल के अन्त समय की यह कलिका है अति प्यारी ।
 विकसी हुई अकेली शोभा पातो इसकी छवि न्यारी ॥
 कलियाँ और खिली थीं जो सब थीं इसकी सखियाँ सारी ।
 सो सब कुम्हला गईं देखिये, सूनी है उनकी क्यारी ॥

*T. Moore कृत Last Rose of Summer का भावानुवाद ।

“सुख दुख दोनों ही आते हैं जगत-बीच बारी बारी” ।
इन कलिकाओं से सूचित है विधि-विपाक यह संसारी ॥

— लक्ष्मीधर वाजपेयी ।

कुछ बन न पड़ा

मुहब्बत में कुछ बन न पड़ा ।

दुखते दिल की कहानी कहते, तू सुन भी न सका ।
आँखें भर के देख ही लेते, मुँह क्यों फेर लिया ॥
छूट के तुझसे कुछ रो लेते, दिल ने न साथ दिया ।
अरे तुझे हम भूल ही जाते, ध्यान बना ही रहा ॥
दिल को अकेले में बहलाते, यह भी हो न सका ।
हुए कभी बेसुध भी अगर हम, तू याद आ ही गया ॥
नाम तेरा लेकर मर जाना, कई बार चाहा ।
मौत भी माँगने से नहीं मिलती, माँग के देख लिया ॥
ये सब कहने की बातें हैं, बिछड़े का दुखड़ा ।
तुझको पाके भी क्या करते, रो पड़ने के सिवा ॥
आह मुहब्बत की मजबूरी, आह ये काली बला ।
ऐ “फिराक़” जिसको यह डस ले, वह बेमौत मरा ॥

— रघुपतिसहाय “फिराक़” ।

[“सुधा” से]

शोक-सन्ताप

क्यों भाग-रूप मुझको जग है लखाता ।
क्यों है सदा रुदन ही मुझको सुहाता ॥
हा ! क्यों मुझे सुरस साग न अन्न भाता ।
क्यों अन्धकार रवि के रहते दिखाता ॥ १ ॥
जाता जहाँ नर सुखी मुझको लखाते ।
खाते भले पहनते हैंसते कमाते ॥
हैं खेलते पठन-पाठन में भुलाते ।
कोई न अश्रु मम सङ्ग अरे बहाते ॥ २ ॥
क्रोड़ा जगज्जन सभी करने लगे हैं ।
आनन्द से कुमुद भी खिलने लगे हैं ॥
देखो चकोर-कुल भी सुख-गीत गाते ।
पै हा ! सुधांशु विष क्यों मुझको पिलाते ॥ ३ ॥
जो ग्राम्य गीत नर सुन्दर गा रहे हैं ।
वेही अरे ! अब शरीर जला रहे हैं ॥
देते मुझे परम हर्ष रहे सदा जो ।
हा ! हा ! हँस मम सभी सुख-सम्पदा क्यों ॥ ४ ॥
चम्पा गुलाब गजदन्त^१ जुही निवारी ।
ये कुंज पुंज-सुख सौरभ मोदकारी ॥

ये जो लता लहलही वन में सुहाती ।
हा ! राम क्यों न मुझको अब रंच भाती ॥ ५ ॥
नीले हरे बादल जो लम्बाते ।
कैसी छटा अद्भुत हैं दिखाते ॥
योगी जनों के चित जो चुराते ।
वे भी न पै क्यों मुझको सुहाते ॥ ६ ॥
ये जो नदी पर्वत हैं दिखाते ।
लुभावने खेत हरे लखाते ॥
आनंद से जो खग गीत गाते ।
हा ! भ्रात क्यों सो मुझको रुलाते ॥ ७ ॥
संसार सत्य सुख-रूप सदा सुखी को ।
होता परन्तु दुख-रूप वही दुखी को ॥
हे भ्रात ! बात यह सत्य मुझे लखाती ।
हा ! हन्त ! हन्त !! पर धीर धरे न छाती ॥८॥

—लोचनप्रसाद ।

प्रकाश की रेखा

तिमिरावृत जीवन में जिसको पहली बार झलक सी देखा,
वह प्रकाश की कंचन रेखा !
जिससे अब भी आलोकित है स्मृति-निकुञ्ज का कोना कोना
मोह-निशा के अन्धकार में ज्ञान-ज्योति का चन्द्र सलोना

(२२६)

नील गगन में अरुण राग सी
हृदय-धाम की नीरवता में
मधुर जागरित नव-विहाग सी,
अब भी जीवन के पृष्ठों पर
लिखती है सुख-दुख का लेखा
वह प्रकाश की कम्पित रेखा ।

—रामअवध द्विवेदी गजपुरी ।

[‘स्वदेश’ से]

जीवन-गीत*

शोक-भरे छन्दों में मुझसे कहो न—“जीवन सपना है” ।
जो सोता है वह है मृतवन्, जग का रंग न अपना है ॥ १ ॥
जीवन सत्य, नहीं झूठा है, चिता नहीं इसका अवसान ।
“तू मिट्टी, मिट्टी होवेगा” उक्ति नहीं यह जीव-निदान ॥ २ ॥
भोग-विलास नहीं, न दुःख है मानव-जीवन का परिणाम ।
करना ही चाहिए नित्य प्रति अधिकाधिक उन्नति का काम ॥ ३ ॥
गुण हैं अमित, समय चञ्चल है, यद्यपि हृदय बहुत बलवान ।
तद्यपि ढोल समान विलखता चिता-ओर कर रहा प्रयान ॥ ४ ॥

* Longfellow कृत Psalm of Life का अनुवाद ।

(२२७)

जग की विस्तृत रणस्थली में जीवन के भगड़ों के बीच ।
नायक बनकर करो काम सब, पशुओं ऐसे बनो न नीच ॥ ५ ॥
नहीं भविष्यत् पर पतियाओ, मृतक भूत को जानो भूत ।
काम करो सब वर्त्तमान में सिर प्रभु, मन दृढ़ यह करतूत ॥ ६ ॥
सज्जन-चरित सिखाते हम भी कर सकते हैं निज उज्ज्वल ।
जग से जाते समय रेत पर छोड़े चरण-चिह्न निर्मल ॥ ७ ॥
चरण-चिह्न ये देख कदाचित् उत्साहित हों वे भाई ।
भवसागर की चट्टानों पर नौका जिनकी टकराई ॥ ८ ॥
हो सचेत श्रम करो सदा तुम, चाहे जो कुछ हो परिणाम ।
सदा उद्यमी होकर सीखो धीरज धरना, करना काम ॥ ९ ॥

—पुरोहित लक्ष्मीनारायण ।

खैयाम की रुवाइयाँ

(१)

यौवन में उत्साहित होकर मैंने देखे सन्त अनेक ;
और ध्यान से उनके प्रवचन सुने तर्क-संयुत सविवेक ।
किन्तु न कुछ भी समझ सका मैं, मिली न इस रहस्य की थाह ;
गया वहाँ जिन पैरों, लौटा उन पैरों हो उस ही राह ॥

(२२८)

(२)

उनको संगति से जो मैंने बोये ज्ञान-बीज अभिराम ;
तथा बढ़ाता रहा जिन्हें मैं सहकर वर्षा-सरदी-घाम ।
उन्हें पकाकर मैंने पाया केवल यह ही शस्य महान्—
“आया जल-प्रवाह-सा जग में, जाऊँगा अब पवन-समान” ।

(३)

क्या जाने कैसे प्रदेश से, क्या जाने क्यों, किसके जोर
ध्येय-हीन जलके प्रवाह सा बहता आया हूँ इस ओर ।
और छोड़कर मृगतृष्णा-सी इस ऊसर अवनी के स्थान;
बहा जा रहा हूँ, क्या जाने कहाँ आज मैं पवन-समान ॥

(४)

“किन लोकों से भगकर आये ! पाया था किसका आदेश ?
अनुमति की परवाह न कर अब भागे जाते हो किस देश ?
—वृथा, वृथा, ये प्रश्न वृथा हैं ! वृथा मान-अपमान-विचार
अनुपम मधु की घूँटों में, बम डूबेगा स्मृति का संसार ॥

—बलदेवप्रसाद मिश्र ।

[‘माधुरी’ से]

तू*

तू ही जिसने दिया मनुज को

अति जघन्य मिट्टी का तन ,

और किया नन्दन-निकुंज के

सँग अनंग का आयोजन ।

जिन पापों ने किया कलंकित

मानव का आनन अनजान,

उनके लिये क्षमा ले उसकी,

स्वयं उसे कर क्षमा प्रदान ॥

×

×

×

तू ही जिसने करना चाहा

मुझको मेरे पथ से भ्रष्ट,

गूढ़ गर्त औ जाल बिछाकर

मुझको देना चाहा कष्ट ।

नहीं फाँस पायेगा मुझको

डाल नियति का तू बन्धन;

मढ़ पायेगा नहीं पाप के

माथे मेरा अधःपतन ॥

—केशवप्रसाद पाठक ।

[‘प्रेमा’ से]

* उमर खय्याम के पद्यों का भावार्थ

मनोव्यथा

भोग नहीं सकता हूँ गृह-सुख
भूल नहीं सकता हूँ पर-दुख ।
अकर्मण्यता से डरता हूँ
जाता हूँ जब हरि के सम्मुख ॥
जीवन का उपयोग न निश्चित
कर पाया दुविधा-वश अब तक ।
यौवन विफल जा रहा है यह
जैसे शून्य-सदन में दीपक ॥ १ ॥
भोग रहा हूँ ज्ञानदण्ड में
चित्त हो रहा है अति चंचल ।
है यह मेरे पूर्व जन्म के
किसी विचित्र पाप का प्रतिफल ।
मुझको शिक्षा मिली न होती
क्यों होता प्रतिभा का अभिनय ।
बढ़ी न होती परिधि ज्ञान की
जग से हुआ न होता परिचय ॥ २ ॥
देश-समाज, मनुष्य-जाति के
कष्टों का करता क्यों संचय ।
मैं निश्चिन्त प्रकृत सुख का तब
भली भाँति लेता रस निश्चय ।

सदा दूसरों के सुख-दुख की
निष्फल चर्चा में रत रहकर,
कवि का सा कुत्सित जीवन मैं
क्यों व्यतीत करता हे ईश्वर ! ॥३॥
—रामनरेश त्रिपाठी ।

[‘त्यागभूमि’ से]

शुक और व्यास*

मञ्जुल मधुर, अमोल, मनोहर बैनहिं बोलत ।
करत अनेक कलोल, स्वच्छ पिञ्जर-महँ डोलत ॥
नागर नट के सरिस अनेकन पेंच दिखावत ।
लखि कै परिचित रूप परम हर्षित ह्वै धावत ॥ १ ॥
जीवहिं नर-तन पाइ, व्याप जो कलि कठिनाई ।
काम, क्रोध, मद, लोभ ताहि नहिं तिमि सरसाई ॥
परिगो तासु सुभाव जीव जिमि पिञ्जर माहीं ।
भये स्वतन्त्र न तजत, कीर जिमि और पराहीं ॥ २ ॥

* यह कविता सत्य घटना के आधार पर लिखी गई है । कवि के पास व्यास और शुक नाम के दो तोते थे । उन्हीं की कथा इसमें वर्णित है । यह पद्य “छत्तीसगढ़-मित्र ” से लिया गया है ।

कै करिकै सन्तोष, समुझ अति दुख परिनामा ।
 बुधजन-सम हित जानि भगति साधत अभिरामा ॥
 जीव, सुआ तन माहिं तऊ परिहरयो न सुभ गुन ।
 पैच बन्धन महुँ बैध्यो, तऊ लागी परहित धुन ॥ ३ ॥
 विश्वनाथपुर^१ वसत, चतुरदस बरस बितायो ।
 राम-नाम रटि, करत भजन बहु विधि मन भायो ॥
 व्यास सरिस गृह बैठि, सुभग अवसर अनुमानी ।
 प्रतिदिन हरिहर विषय उचारत अद्भुत बानी ॥ ४ ॥
 एक दिवस मम भ्रात एक सुक-सावक लाये ।
 पर आयो नहिँ अजहुँ सेइ तेइ चहत जिवाये ॥
 कीन्हें श्रम कछु काल थकित ह्वै कियो विचारा ।
 काहू औरहि सौँप देहुँ यह सार सँभारा ॥ ५ ॥
 केवल परखन हेत सुभाव वृद्ध शुक केरो ।
 शुक-सावक ले गया तासु पिञ्जर के नेरो ॥
 अति हर्षित ह्वै कीर, ताहि मिलवे हित धायो ।
 हिय संसय सन्देह, तऊ उन भेंट करायो ॥ ६ ॥
 पट उघारि, तिन डारि दियो सुक-सावक भीतर ।
 परयो जाय असहाय, सोउ भाजन समीप तर ॥
 अति हित भाजन टारि, चोंच निज अन्न निकारयो ।
 करिके आपुहि स्वच्छ, नेह सह तेहि मुख डारयो ॥ ७ ॥

यहि बिधि श्रम करि, सुआ खवावन लाग्यो ताही ।
जब लगि भयो न प्रौढ़ निरन्तर प्रीति निवाही ॥
ज्यों त्यों बीते कछुक काल, ताको पर आये ।
आपुहि लाग्यो चुगन, ताहि तब पढ़न सिखायो ॥ ८ ॥

तनिक तनिक करि, सीख लई तन सगरी बानी ।
युवक भयो शुक देखि, प्रीति दिन दिन सरसानी ॥

❀ ❀ ❀ ❀

बीते दिन, सप्ताह, पाख, अरु मास घनेरे ।
ऋतु वसन्त के भये तबहिं ते बारह फेरे ॥ ९ ॥
भयो व्यास अब वृद्ध, थक्यो बल पौरुष सारो ।
भूलि गयो सब खेल, अन्त हरि-भजन विचारो ॥
एतेहु पै विकराल काल सन्तोष न पायो ।
रह्यो सह्यो जो चोंच, सोउ तेहि हाथ गवाँयो ॥ १० ॥
होन लग्यो जब कष्ट, होय शुक दुखित, निहार्यो ।
निज बालकपन हृदय माँझ सों किधौं विचार्यो ॥
अति हित, ताहि निवारि, चोंच निज अन्न निकार्यो ।
करिकै आपुहि स्वच्छ, नेह सह तेहि मुख डार्यो ॥ ११ ॥
सेयो शुक रक्षकहि भाँति बहु तन मन लाई ।
बीत्यो इभि इक बरस, घरी तब अन्तिम आई ॥
[बल पौरुष के थके वृथा जोवो संसारा] ।
सो प्रिय व्यास निदान आजु, परलोक सिधारा ॥ १२ ॥

तासु निकट मनमलिन युवक शुक दुखित विचारत ।
सूचक-शोक-अपार दृष्टि तेहि शव पै डारत ॥
चरन चोंच तें उलटि, भाँति बहु चहत जगावन ।
पै तहवाँ सो गयो, जहाँ ते फिर कोउ आवन ॥ १३ ॥

अन्त निराश, उदास, शोक आकुल, चुप साधी ।
बैठ्यो नजि जल अन्न, विश्व को जनु अपराधी ॥
तीनि दिवस के बीच, सोउ चलि बस्यो तहाँही ।
सुजन-वियोगी अरु कृतज्ञ पत्नी जहँ जाहीं ॥ १४ ॥

अविचल तिनको जाति-प्रेम अरु पर-उपकारा ।
धन्य शील, वात्सल्य ! सन्तजन-सम व्यवहारा ॥
मनुज लजावनहार धन्य पुनि पुनि मोइ प्रेमा ।
कबहुँ ऊन नहिँ चन्दकला सम बढ़त सनेमा ॥ १५ ॥

इन अबोल पत्नीन तें, सब नर शिक्षा लेहिं ।
परहित, प्रेम, कृतज्ञता, वत्सलता चित देहिं ॥
अति दुर्लभ यह मनुज-तनु लहि साधन को धाम ।
जे न करहिँ अस खगहुँ तें, ते जग जियन निकाम ॥ १६ ॥

—रामदास गौड़ 'रस' ।

बाल्य-स्मृति*

कौन ले गया लूट हाय ! मम बाल-काल का सुख-भाण्डार ?
कहाँ प्रबल उत्साह, कहाँ अब गई हृदय की शान्ति समूल ?
कहाँ सखा सङ्गिनी आदि का वह नैसर्गिक प्रेम अपार !
आँख-मिचौनी, सुखद धूल-गृह-खेल कहाँ शैशव सुख-मूल !!
चला गया वह समय हाय ! इस जीवन को करके निःसार ।
वही नयन, तनु वही, किन्तु हैं दृश्य आज जग के प्रतिकूल ।
मेरे बचपन के साथी-गण भी करते हैं हाहाकार ।
इस जीवन के भीषण रण में पड़, निज निज सुख कर निर्मूल ॥
शान्ति-पूर्ण उस बाल-काल के पावन सुख की होते याद ।
शोक-अग्नि से तनु जलता है व्याकुल होते हैं मन-प्राण ॥
स्थायी मुझे ज्ञात होता था पावन शैशव का आह्लाद ।
था नहिं मेरे बाल-हृदय को कुटिल काल की गति का ज्ञान ॥
चिर बन्दी रोता है ज्यों नित सोच सोच निज गृह-सुख-स्वाद ।
त्यों मैं अब व्याकुल होता हूँ उस सुख का कर मन में ध्यान ॥

—लोचनप्रसाद ।

श्मशान*

धारण कर निज वक्षस्थल में अपराजिता चिता विकराल ।
देता है श्मशान यह जग को साम्य-धर्म का शुभ उपदेश ॥
हो जाते हैं लोप यहाँ धन, बल, कुल, बुद्धि, अवस्था, वेश ।
एक समान यहाँ पर सब हैं बाल, वृद्ध, नरपति, कङ्काल ॥

हांती यहाँ दूर दुःखादिक रोग-शोक-चिन्ता की ज्वाल ।
गर्व, शौर्य, ऐश्वर्य, तथा साहस, वीरत्व, भीरुता, द्वेष ॥
करते हैं सब यहाँ भीत चित मौन जलधि के मध्य प्रवेश ।
इस अशान्ति-मय भव में है यह परमशान्ति का स्थल सुविशाल ॥

जिनके भुजबल से हांती थी कम्पित कदली-पत्र-समान ।
यह मेदिनी, वीर ऐसे भी हो श्मशान ! तेरे आधीन ॥
भस्म-रूप में यहाँ पड़े हैं तज निज बल-विक्रम-अभिमान ।
निश्चित है यह बात, एक दिन मैं भी हो सुख से आसीन ॥

तज श्मशान ! सांसारिक चिन्ता, दुःख, कुल-गर्व, मान-अपमान ।
तेरी मृदुल भस्म-शय्या पर हूँगा चिरनिद्रा में लीन ॥

—लोचनप्रसाद ।

ग्रामीण-विलाप*

रवि ने लाली गही गैल में गोरज छाई ।
घर को श्रमी किसान फिरे कर खेत कमाई ॥
सन्ध्यावन्दन-निरत विप्र सर-तीर विराजे ।
थकी प्रकृति ने सकल साज सोने के साजे ॥ १ ॥

अब क्रम क्रम सब ओर फैलने लगा अँधेरा ।
किया वायु ने बन्द शान्त होकर निज फेरा ॥
जीव-जन्तु चर-अचर घरों में जाकर सोये ।
सबही ने जग-जाल-जनित निज निज श्रम खोये ॥२॥

केवल जगते चोर, पाहरू, उल्लू, कामी ।
वृक, चकोर औ दुखी कर्म निज के अनुगामी ॥
बोलें कभी सियार कभी झिझी भनकारें ।
या विरही-जन-शोक रात सुनसान विदारें ॥ ३ ॥

उन पेड़ों के पास खेत-सा है जो फैला ;
पंचतत्त्व में मिला पड़ा है वहाँ अकेला ॥
ठौर ठौर में एक एक ग्रामीण सशाना ।
तज निज घर परिवार भूमि रथ वाहन नाना ॥ ४ ॥

प्रात सुगन्ध-समीर तीक्ष्ण धुनि अरुण-शिखा की ।
चिड़ियों की मनहरन सुरीली बोली बाँकी ॥

कथा, गान, रण-वाद्य, सभा, या खेल-तमाशे ।
जगा सकेंगे इन्हें न अब अन्तिम निद्रा से ॥ ५ ॥

टहल न इनकी कभी किसीको होगी करनी ।
घर आने की बाट न अब देखेगी घरनी ॥
वच्चे भी अब दौड़ न इनके ढिग आवेंगे ।
नहीं गोद में बैठ प्रेम से तुतलावेंगे ॥ ६ ॥

इनके हँसिये देख फसल मस्तक नाती थी ।
पड़ी कड़ी भी भूमि जोत से घबराती थी ॥
क्या ही होकर मगन चलाते थे ये निज हल ।
दब जाता था कठिन चोट के नीचे जंगल ॥ ७ ॥

सहज मोद, श्रम सुखद, भाग्य इनका अनजाना ।
इन्हें लालसा ! कभी भूलके तू न चिढ़ाना ॥
प्रभुता ! तू सुन दीन-जनों की दीन कहानी ।
मत करना उपहास, न कहना गर्वित बानी ॥ ८ ॥

विरदावलि की डींग उच्च-पद का आडम्बर ।
रूप और धन काम करै हैं जो कुछ भू पर ॥
सबके सिर पर सदा अटल वह घड़ी खड़ी है ।
कीरति की भी बाट मीच के पास पड़ी है ॥ ९ ॥

इन्हें लगाना दोष न कुछ लोगो अभिमानी ।
जो पै इनकी दाह-भूमि पर कोई निशानी ॥

सकै न कभी बनाय यादगारी इस डर में ।
होगा जग में नाम न दीनों के आदर में ॥ १० ॥

पर समाधि या खम्भ कभी क्या ला सकता है ।
चपल प्राण घर फेर न जिनका कहीं पता है ? ॥
क्या आदर से मूक भस्म होगी आनन्दित ?
या कठोर जड़ मीच चापलूसी से मोहित ? ११ ?

थे इनमें कुछ लोग देव-पटतर के लायक ।
जो ऋषियों की भाँति धर्म के हुए सहायक ॥
कई नीति के साथ राज का काज चलाते ।
शारद-वीणा मधुर प्रेम से कई बजाते ॥ १२ ॥

पर विद्या ने इन्हें भेद निज नहीं बताया ।
जीवन भर अज्ञान-तिमिर में वास कराया ॥
प्रतिभा इनकी रही रङ्गता-दोष दबाये,
इनके मन के भाव सुखद शुचि विकस न पाये ॥ १३ ॥

रहते हैं अनमोल हजारों मोती सुन्दर ।
एक ठौर में पड़े अगम सागर के भीतर ॥
त्योही ललित गुलाब अलख लाखों खिलते हैं ।
वन में खोय सुगन्ध व्यर्थ लय में मिलते हैं ॥ १४ ॥

कोइ अयोध्यानाथ सदृश निज-देश-उपासी ।
शिवप्रसाद सम कोइ देश अधिकार उदासी ॥

इनमें होते वीर कोई राना प्रताप सम ।
 अथवा कोई मानसिंह ही से भूपाधम ! ॥ १५ ॥
 बदा नहीं था इन्हें सभा-करताली सुनना ।
 दुख-घबराहट और नाश-भय तुच्छ समझना ॥
 सुख-सम्पत्ति का खान उर्वरा भूमि बनाना ।
 निज इतिहास पुनीत जाति-जन से पढ़वाना ॥ १६ ॥
 यदपि भाग्य ने सदा पुण्य को इनके टोका ।
 तो भी अघ की ओर इन्हें जाने से रोका ॥
 हत्या में से इन्हें राज्य-पथ नहीं बताया ।
 दीन-दया का द्वार न इनका बन्द कराया ॥ १७ ॥
 इन्हें नहीं था ज्ञात कभी सच बात छिपाना ।
 या करने में कभी दोष-स्वीकार लजाना ॥
 पाकर गिरा-प्रसाद इन्होंने गद्दी सिधवाई ।
 भोग-विलास घमंड-वास लौं पास न आई ॥ १८ ॥
 मदमातों की नीच कलह से दूर निकलकर ।
 इनकी इच्छा धीर न भटकी कभी बिचल कर ॥
 जीवन की एकान्त शान्त-घाटी का मारग ।
 चला किये चुपचाप फूँककर रखते ये पग ॥ १९ ॥
 लोगो ! जितना बने कहो इनके गुण ही अब ।
 छाड़ो इनके दोष प्रकट करने का करतब ॥

तुम भी होगे एक दिवस इन सबके साथी ।
बँधे जहाँ के तहाँ छोड़ सब छोड़े हाथी ॥ २० ॥

—कामताप्रसाद गुरु ।

बन्दी का स्वप्न

१—प्रशान्त कारागृह था, निशीथ थी,
समस्त बन्दी-गण गाढ़-सुप्त थे ।
कहीं कहीं बाल रहे कभी कभी,
प्रबुद्ध पौरी पर पाहरू सभी ॥

२—अखंडता से तमतोम व्याप्त था,
प्रचंडता से पतिता सुषुप्ति थी ।
विलोकने को श्रम-सुप्त-यूथ को,
रहे झरोखे उड़ु-वृन्द भाँकते ॥

३—वहाँ अनेकों श्रम से विचूर्ण थे,
महान निद्रा-सम जाड्य-पूर्ण थे ।
सहस्रशः बेसुध थे शरीर से,
पड़े हुए पन्नग प्राण-हीन से ॥

४— × × ×

मुझे किसी सञ्चित पूर्व पुण्य से
हुआ महा सुन्दर एक स्वप्न था ।

- ५—लखा कि कारागृह से विमुक्त हो
चला किसी मैं अनजान मार्ग से ।
वसन्त के सौख्य-भरे प्रभात में,
दिखा रहा दूर स्वकीय गेह था ॥
- ६—विलोकते ही द्रुत वेग से चला,
बढ़ा, भगा मैं महि से उठा, उड़ा ।
फलोंग के गोचर भूमि भाड़ियाँ,
अहो ! विलोका निज शुभ्र हर्म्य को ॥
- ७—जहाँ कभी मैं निज बाल्यकाल में
समोद भूला चढ़ प्रेम-पालना ।
जहाँ कभी यौवन-काल में किया
मुदा समालिङ्गित था कलत्र को ॥
- ८—विलोकते ही गृह-तुंग-शृंग को.
महा मनोवेग समान ही बढ़ा ।
हुआ समासीन अदीन हो पुनः,
स्वधाम के प्राङ्गण में तुरंत ही ॥
- ९—प्रमोद से बालक गोद में गिरे;
खड़ी विचारी वनिता अवाक् थी ।
मिला समाचार समस्त ग्राम को;
पुकारने मित्र लगे स्वद्वार पै ॥
- १०—न देह में सौख्य समा सका अहो !

तुरंत ही गद्गद-कंठ हो गया ।
सवेग उन्मीलन नेत्र का हुआ;
अदृश्य हा, हा ! वह दृश्य हो गया ॥

—अनूप शर्मा ।

कोकिल-पञ्चक

मातु मेरी अविवेकिन मोहिँ कुसंग में छोड़ि कै अन्त सिधाई ।
कूर कवेलन के सँग खेलन में मम बीति गई लरकाई ॥
सत्य विवेकन मातु प्रकृति ने यौवन में मोहिँ राह बताई ।
काक-कुंकठ को छोड़ि कियौ कलकंठ सुकोकिल संग सगाई ॥ १ ॥
बाल सँघाती ये वायस घाती हमें छलिवे कहँ घात लगावैं ।
देखत ही ढिग आइके मो मुख चूमन को निज चोंच चलावैं ॥
औगुन आपने देखत नाहिँ ये मो कहँ छेड़त नाहिँ लजावैं ।
नारद सों विकृतानन लै मोहिँ विश्व-विमोहिनी व्याहन धावैं ॥२॥
अंत हेमन्त औ सीसिर को भयो सोभा अनन्त दिगन्त में छाई ।
संग लगी निज कंत के मैं हूँ वसन्त को आनन्द लेन को आई ॥
हन्त हा हन्त ! न बीतन पाये इकन्त में मासहूँ द्वै सुखदाई ।
ग्रीसम-काल ज्वलन्त ने आइ वसन्त के राज में आगि लगाई ॥३॥
ग्रीसम पापी परो मम पीछे जहाँ जहाँ जाऊँ तहाँ तहाँ जावै ।
लेन न देय रसालन को रस मो रस में विष आइ मिलावै ॥

मो तन जारि के कारो कियो अब मो मनहूँ निसि द्यौस जरावै ।
प्राण को प्यासो भयो यह यासों कोऊ मोहिं कोउ कोऊ तोबचावै ॥४॥

सूखिके कंठ भयो जब ठंड तौ वारिद वारि का लेइ जरौंगी ?
दूर गयो जब रम्य वसंत तो का हरे रूखन बैठि करौंगी ?
नागन के ठनकार औ दादुर के दुदकार से दूर टरौंगी ।
मोर के मोर पपीहा के नाद बुरी बकवाद में मौन धरौंगी ॥ ५ ॥

—भगवानदास जायसवाल ।

प्रशस्त-पाठ

शुभ सत्य सनातन धर्म वही
जिसमें मत पन्थ अनेक नहीं ।
बल-वर्द्धक वेद वही जिसमें
उपदेश अनर्थक एक नहीं ॥
सुख-मूल समाधि वही जिसमें
व्रत-बन्धन की कुछ टेक नहीं ।
कवि शङ्कर बुद्धि विशुद्ध वही
जिसके मन में अविवेक नहीं ॥ १ ॥
गुरु गौरव-हीन कुचाल चलें
मत-भेद प्रसार प्रपञ्च रचें ।

(२४५)

दिनरात मनो मुख मूढ़ लड़ें
चहुँ ओर घने घमसान मचें ॥
व्रत साधन के मिस पाप करें
हठ छोड़ न हाथ लबार लचें ।
कवि शंकर मोह-महासुर से
विरले जन पाय विवेक बचें ॥ २ ॥

तन सुन्दर रोग-विहीन रहै
मन त्याग उमंग उदास न हो ।
रसना पर धर्म-प्रसङ्ग बसें
नर-मण्डल में उपहास न हो ॥
धन की महिमा भरपूर मिले
रस-रङ्ग-वियुक्त विलास न हो ।
कवि शङ्कर ये सब संकट हैं
सुखदा प्रतिभा यदि पास न हो ॥ ३ ॥

निशिवासर भोग विलास किये
रस-रङ्ग भरे सब साज बने ।
सिर धार किरीट कृपाण गही
अवनी भर के अधिराज बने ॥
अनुकूल अखण्ड प्रताप रहा
अविरुद्ध अनेक समाज बने ।

(२४६)

कवि शङ्कर वैभव ज्ञान बिना
भवसागर के न जहाज बने ॥४॥

कब कौन अगाध पयोनिधि के
उस पार गया जलयान बिना ।
मिल प्राण अपान उदान रहें
न समान विमिश्रित व्यान बिना ॥
कहिए ध्रुव ध्येय भिला किसको,
अविकल्प अचञ्चल ध्यान बिना ।
कवि शङ्कर मुक्ति मिली न कहीं
सुखमूल विवेकज ज्ञान बिना ॥५॥

—नाथूराम शङ्कर शर्मा ।

“अंतिम आकांक्षा” से

कितने युग से हाय ! भटकता आया हूँ इस जग में
तज निवास ज्योतिष्क-लोक का प्यारा ।
कुश-कंटक से होकर पीड़ित मूर्च्छित मैं पग-पग में
परदेशी फिरता हूँ मारा मारा ॥
पार कर चुका हूँ कितने ही कठिन मार्ग वन कानन
पार कर चुका हूँ कितनी ही नदियाँ ।

सुन सुनकर घर्घर-रव-मुखरित भरनों का चिरक्रन्दन
बीत चली कितनी ही लम्बी सदियों !

× × × × ×
× × × × ×

भाग्यचक्र से फिरता हूँ अब प्रतिदिन नगरी नगरी
सुनता हूँ केवल उत्कट कोलाहल ।

झूब गई है सुधा-सरस स्वप्नों की अनुपम गगरी,
शेष रह गया है केवल हालाहल ॥

कहाँ गया वह वनदेवी का स्नेह-सुधा-रस-वर्षण ?
कहाँ ग्राम के सरल प्रेममय मानव !

अब संचारित करत हैं ऐसों में भीषण हर्षण
राजनीति, व्यापार, युद्ध के दानव ॥

कहाँ शान्तिमय करुणा है अब, कहाँ प्रीति है भाई !
माता की ममता,—युवती का यौवन ?

सभी ओर कुहरे की नाईं राजनीति है छाई,
सुनता हूँ नित प्रलय-युद्ध का गर्जन ।

× × × × ×

जीवन-लीला की समाप्ति का गाकर गीत रसीला;
देख देख निर्मुक्त प्रसार गगन का;

बहे चलें अब द्विधाहीन हम करने बन्धन ढीला
उत्सव देखें जीवन-मृत्यु-लगन का ॥

—इलाचन्द्र जोशी ।

वन्दनीय बलिदान

कुसुम की कोमल कलियाँ बेध
बनाते देखा सुन्दर हार ।

भूलकर हृदय-वेदना विषम,
विहँसती थीं कलियाँ सुकुमार ॥१॥

जगत्-सौन्दर्य-सजीवन-मूल
मालियों के फूले अरमान—

सरस-सौरभ-सुषमा-अभिधान
सुमन का वन्दनीय बलिदान ॥२॥

सिद्ध-साधक के साधन तंतु—
अर्चना-अञ्जलि अमर विधान

पूज्य चरणों की पावन भेंट
देवताओं के शिर-सम्मान ॥३॥

['गङ्गा' से]

—जगदीश झा 'विमल' ।

मदन-दहन

निरखि जासु लावण्य रतिहु कर मद दुरि भाज्यो ।
लाज-सृष्टि कर हेतु जाहि सन दृढ़ता साज्यो ॥
तेहि गिरिजहि लखि मीनकेतु साहस पुनि धार्यो ।
इन्द्रियजित शिव माहिँ काज की सिद्धि विचार्यो ॥

निज होनहार पतिद्वार जब भई प्राप्त सैलेसजा ।
 लखि परम आतमा निज हृदय तज्यो ध्यान त्रिभुवन-पिता ॥
 आसन-महि बहुजतन जासु धारत सहसानन ।
 मंद मंद हर मोचि श्वास छौंड़्यो वीरासन ॥
 तब नन्दी कर जोरि तुरत शिव सम्मुख जाई ।
 सेवा-हित गिरिराज-सुता का कह्यो अवाई ॥
 सो भृकुटि-सहित-चख चालि प्रभु अंगीकृत संज्ञहि कर्यो ।
 तब सकुचि गौरि मुख मोरि कछु लता-भवन बिच पग धख्यो ॥
 लघु पातनयुत चुन्यो सखिन निज कर मधु फूलन ।
 तिन्हैं सहित परनाम समरप्यो शिव-पद-मूलन ॥
 करत दण्डवत प्रभुहि उमा के नील अलक सों ।
 नव कनेर खसि खसे श्रवन के पात फलक सों ॥
 नहिं आन तरुनि ' मुख जेहि लख्यो, लहु सों पति भव अस कह्यो ।
 सो अवशि सत्य, विपरीतता ईश वचन कबहूँ लह्यो ॥
 धावत यथा पतङ्ग अनल दिशि मीचु मुलाई ।
 तथा, सुअौसर जानि, असमसर संग विहाई ॥
 पारवतिहि शिव निकट देखि, साध्यो धनु-सायक ।
 ताही छिन गिरिसुता कञ्जसम कर सुखदायक ॥
 सो, रवि किरननि सूखे कमल गंगधार मन जे लियो ।
 तिन्ह वीज-माज तपस्वी हरहिँ प्रेम-महित अरपित कियो ॥

भक्ति-प्रीति-बस लगे शम्भु तेहि ग्रहन करन ज्यों ।
 सम्मोहन शर दुसह मार धनु बीच धर्यो त्यों ॥
 चन्द्रोदय छिन सिन्धु-तरङ्गनि सरिस पुरारी ।
 चलित धीर कछु रहे उमा-मुख-चन्द निहारी ॥
 करि दीप्तिमान कोमल-कदम-सम-अङ्गनि भावहिं प्रकट
 मुख मोरि, तिरीछे चखन सों, रही लाजबस है निपट ॥
 इन्द्रिय-जित-पन सों तदनु^१ गो^२-विकार पुनि रोधि ।
 जानन कारन तासु हर रहे सकल दिशि सोधि ॥
 हरि-चक्र-सम धनु धरे, उद्यत करन बाण प्रहार ।
 अपसव्य चख ढिग मूठि कीन्हों लख्यो हर तहँ मार ॥
 कछु समाकुञ्चित किये दक्षिण पाँव, कन्ध भुकाय ।
 अरु वाम पद करि अग्र, विलसत दुतिय नैन दबाय ॥
 निज तपस्या निरखि बाधित कोप करि त्रिपुरारि ।
 भये विकट स्वरूप, जो नहिँ नेक जात निहारि ॥
 भङ्ग करि भृकुटीन दीन्हों तृतीय नैन उधारि ।
 कढ़ी जासों ज्वालमाल प्रचण्ड अति भयकारि ॥
 'छमहु हे प्रभु ! छमहु कोप कराल, त्रिभुवनपाल !'
 होय व्योम प्रवृत्त जौ लागि देव-रोर विहाल ॥
 तासु प्रथमहि प्रलयकरनि ललाट चख की ज्वाल ।
 कियो मारहि छारवत, अति भरी तेज कराल ॥

अति अनादर-जनित गो-गति सकल रोधनहार ।
कन्त-नास भुलाय, रति कर मोह ' किय उपकार ॥
तपी हर तेहि विघन-विटपहि तड़ित सम भरसाय ।
गणन सह भे गुप्त तरुनी-गन-समीप विहाय ॥
यह चरित्र लखि शैलजा है भयभीत महान ।
गई पिता-भवनहि सपदि, मन अति किये मलान ॥
स्वारथ-रत बहु लोग नेह अविचल दरसाई ।
अभिमानिन बहँकाय लेहि निज काज बनाई ॥
पै तिनपर जब परत आनि भावी कछु भारी ।
तब शठ पूँछ दवाय जाहिं कढ़ि विरद विसारी ॥
जिमि सहसनेन रतिनाथ कहँ दिय बधात निज काज हित ।
पुनि हर्यो शम्बरासुर रतिहि रह्यो निलज चुप साधि तित ॥

श्यामविहारी मिश्र

और

शुकदेवविहारी मिश्र ।

गृह-स्मरण

अनुजवर, नहीं है चित्तमेरा ठिकाने ,
स्थिर हृदय न होता आज, हा ! क्यों, न जाने ।

१ मूर्च्छा ।

रह रह सुधि आती गेह की भ्रान्ति-युक्त ;
निमिष भर न मेरा बीतता शान्ति-युक्त ॥ १ ॥

अहह ! उठ रहे हैं भाव ये भीतिकारी ;
विविध विषम चिन्ता दे रही दुःख भारी ।
पल पल अति पीड़ा पा रहा मैं घनिष्ठ ,
कुशल कर हरे ! तू हो न कोई अनिष्ट ॥ २ ॥

अशकुन बहु होते, काँपते प्राण मेरे ,
विकट कटक जी को भीति के आज घेरे ।
अनुज, कुशल तो है गेह में सर्व भाँति ?
धड़क यह रही है व्यर्थ ही हाय छाती ॥ ३ ॥

स्वगृह-गमन को हैं प्राण मेरे अधीर ,
उड़कर घर जाता, मैं हुआ क्यों न कीर ?
परवश पर मेरा हो गया है शरीर ;
कब उड़ सकता है पञ्जराबद्ध कीर ? ॥ ४ ॥

भवन-गमन की कीं युक्तियाँ जो अनेक ,
सफल न उनमें से हो सकी हाय ! एक ।
मन कुछ न समाता क्या करूँ मैं उपाय ,
विषम विषमयी है दासता हाय ! हाय ! ॥ ५ ॥

स्वगृह-कुशलता का शीघ्र ही वृत्त देना ,
बस बहुत जरूरी पत्र को जान लेना ।

पल पल मुझको है बीतता कल्प जैसा ,
स्वगृह-जनित होता प्रेम है भ्रात ! ऐसा ॥६॥
पाने को निज गेह के कुशल की वार्त्ता सुशान्ति-प्रदा
कैसे अस्थिर-चित्त हाय ! रहते, देखो, प्रवासी सदा ।
ऐसा ही अनुराग-युक्त घर का होता दृढाकर्षण ;
हे भाई ! घर शान्ति का सदन है, स्वर्गीय सौख्यासन ॥७॥
—लोचनप्रसाद ।

कवि और कविता*

दो ही अमर हुए हैं, होंगे भी और हो रहे हैं भी ।
जो कविता करते हैं, या कविता को कराते हैं ॥ १ ॥
कवि के बिना न कोई, पाता है स्वाद काव्यों का ।
भौंरा ही लेता है, स्वाद कमल का न भेक कभी ॥ २ ॥
कवि की कटु कविता को, मधुर स्वर से सुजन सुनाता है ।
वारिधि-जल को जैसे, घन मीठा कर बरसाता है ॥ ३ ॥
काव्य बिना जाने जो कवि बनता है वही सही कवि है ।
चाल नक़ल करने से, हंस बराबर न बक होगा ॥ ४ ॥
पर की कविता सुनकर, सच्चा सहृदय प्रसन्न होता है ।
वारिद-ध्वनि सुनकर क्यों, रसिक कलापी न नाचेगा ॥ ५ ॥

* Blank Verse की शैली पर ।

अटपट पद रचकर, कभी न कोई कवीन्द्र बनता है ।
काँ काँ अधिक करे पर, काक कभी भी न पिक होगा ॥ ६ ॥
कवि निर्धन भी होकर, शठ की सेवा कभी न करता है ।
रत्नाकर में जाकर, हंस कभी क्या विचरता है ॥ ७ ॥
ऐसा कौन विषय है, कवि की प्रतिभा जहाँ नहीं जाती ।
नभ से अछूत कोई, वस्तु नहीं देख पड़तो है ॥ ८ ॥

कविता

सिता-स्वाद से बढ़कर, मधुर-सुधा में मिठास होता है ।
उससे कहीं अधिकतर, मिलता है स्वाद काव्यों में ॥
रवि-शशि जब मिट जाते, कवि की कविता तभी नष्ट होती ।
यह दृढ़ करके बुधवर, कविता-सेवा सदा करिये ॥
स्तुति से, गुण से, रस से, अलङ्कृता भी तथा अलङ्कृति से ।
कविता हो या वनिता, दोनों सबको लुभाती हैं ॥
खग-मृग भी वश होते, सुनते ही मधुर गीत सुस्वर को ।
पशु से बढ़कर वे हैं, जिन्हें नहीं काव्य से प्रेम ॥
सुरनगरी सुरवनिता, दोनों से है अधिक सुखद कविता ।
कवियों के इस मत को, कौन नहीं मान सकता है ॥
अच्छी भी कविता हो, अरसिक-जनों को कभी नहीं भाती ।
कभी नपुंसक को भी क्या रम्भा मोह सकती है ॥

टेढ़ी भी कवि-वाणी, रसिक-जनों को प्रफुल्ल करती है ।
शशधर वक्र-कला क्या, नहीं हँसाती चकौरों को ॥
नव-रत्नों को नव-रस, कवि कहते हैं सभी सुकाव्यों में ।
भूल रहे हैं वे जो, पत्थर को रत्न कहते हैं ॥

—रामचरित उपाध्याय ।

कवि

कवि तुम गौरव स्वजाति का स्वभाषा का हो
भावुकों का जीवन हो यौवन हो तन हो ।
सखा दलितों का पतितों का दीन दुर्बलों का
मूकों का मनोरथ प्रकाशक हो जन हो ।
वीरों का भयंकर परिश्रम हो, साहस हो
प्रेमियों का प्रेम हो महानता हो मन हो ।
कविता का प्यारा हो, स्वयम्भू हो, स्वतन्त्र भी हो,
देश का दुलारा और भारती का धन हो ॥

—मोहनलाल महतो 'वियोगी' ।

[“मनोरमा” से]

कविता के प्रति

विफल जीवन व्यर्थ बहा—बहा,
सरस दो पद भी न हुए हहा !
कठिन है, कविते ! तव भूमि ही,
पर यहाँ श्रम भी सुख-सा रहा ॥

—मैथिलीशरण गुप्त †

[“माधुरी” से]

युवा संन्यासी*

गुण-निधान मतिमान सुखी सब भाँति एक लवपुर-वासी ।
युवा अवस्था बीच विप्रकुलकेतु हुआ है संन्यासी ॥
विविध रीति से उस विरक्त को सुदृढ़ बन्धु समुभाय थके ।
गङ्गाजी के प्रवाह ज्यों पर उसे न वे सब रोक सके ॥ १ ॥
वृद्ध पिता-माता की आशा, बिन व्याही कन्या का भार ।
शिक्षा-हीन सुतों की ममता, पतिव्रता नारी का प्यार ॥
सन्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम ।
त्याग, एक अनुराग किया उसने विराग में तज सब नेम ॥ २ ॥
“प्राणनाथ ! बालक सुत दुहिता”—यों कहती यारी छोड़ी ।
“हाय ! वत्स ! वृद्धा के धन !”—यों रोती महतारी छोड़ी ॥

* कृश्चयन कालेज लाहौर के प्रोफेसर श्रीयुत गोस्वामी तीर्थराम
एम० ए० के संन्यासोपलक्ष में लिखित ।

चिर सहचरी “रियाजी” छोड़ी रम्य तटी राबी छोड़ी ।
शिखा-सूत्र के साथ हाय ! उन बोली पञ्जाबी छोड़ी ॥ ३ ॥

धन्य पञ्चनद भूमि जहाँ इस बड़भागी ने जन्म लिया ।
धन्य जनक-जननी जिनके घर इस त्यागी ने जन्म लिया ॥
धन्य सती जिसका पति मरने से पहले हो जाय अमर ।
धन्य धन्य संतान पिता जिनका जगदीश्वर पर निर्भर ॥ ४ ॥

शोकप्रसित हो गई लवपुरी उसकी हुई बिदाई जब ।
द्रवीभूत कैसे न होय मन ? संन्यासी हो भाई जब ॥
खिन्न, अश्रुमुख वृद्ध लगे कहने “मङ्गल तव मारग हो ।
जीवन्मुक्ति सहाय ब्रह्म-विद्या में सत्वर पारग हो” ॥ ५ ॥

कुछ मित्रों ने हृदय थामकर कहा कि प्यारे ! सुन लेना ।
बात अन्त को आज हमारी ज़रा ध्यान इसपर देना ॥
समदर्शी ऋषि-मुनियों के भी भारत प्यारा लगता था ।
इस कारण यह विद्या-बल में जग से न्यारा लगता था ॥ ६ ॥

सर्व त्याग कर महा-भाग जो देशोन्नति में दे जीवन ।
धन्यवाद देते हैं देवगण भी उसको हो प्रमुदितमन ॥
अपनी भाषा-भेष-भाव औ भोजन प्यारे भाइन को ।
नहीं समझता उत्तम, समझो उससे भली लुगाइन को ॥ ७ ॥

“एवमस्तु” कर उच्चारन इन सबके उसने उत्तर में ।
कहा “अलविदा” और चला वह मनभावन उस औसर में ॥

लगे वर्षने पुष्प और जय जय की तब हो उठो ध्वनी ।
मानों भिक्षुक नहीं, वहाँ से चला विश्व का कोई धनी ॥ ८ ॥

ज्यों नगरी में हाँय स्वच्छता जब आता है कोई लाट ।
ज्यों वन पर्वत प्रकृति परिष्कृत हुए समझ मानों सम्राट ॥
निष्कण्टक पथ हुआ पवन से वारिद ने जल छिड़क दिया ।
कड़क तड़ित ने दई सलामी आतपत्र वृक्ष ने किया ॥ ९ ॥

विहङ्ग-कुल ने निज कल-रव से उसका स्वागत गान-किया ।
श्वापद शान्त हुए मृगगण ने दक्षिण में आ मान किया ॥
श्रेणीबद्ध फलित तरुओं ने उसको झुककर किया प्रणाम ।
पुष्पित लता और विरवों ने कुसुम विछाये राह तमाम ॥ १० ॥

खड़ा हिमालय निज उन्नत मस्तक पर तत्पद धारण को ।
हुई तरङ्गित सुरधुनि तब अभिषेक पुनीत करावन को ।
शिखा देती मानो सबको जननी-सदृश प्रकृति सारी ॥
विषय-विरक्त ब्रह्म-चिंतन-रत नर के सब आज्ञाकारी ॥ ११ ॥

—माधवप्रसाद मिश्र ।

सेविका

मेरे इस निर्जन निकुंज में आओ, आओ, परदेशी !
नये सकोरे में शीतल जल, आ, पी जाओ, परदेशी !

×

×

×

मेरी इस स्थिति में तुम आये कहो, कहाँ से परदेशी !
विजन प्रान्त में क्यों पथ भूले, भूखे, प्यासे परदेशी !

×

×

×

किस सागर के पार तुम्हारा घर है प्यारे परदेशी !
किस दुखिया के आँसू लेकर यहाँ पधारे परदेशी !
किस अत्याचारी का शासन तुम्हें रुलाता परदेशी !
किस सामाजिक उर पोड़न से तू अकुलाता परदेशी !

×

×

×

आओ बैठों थकित हुए हो, पाँव पखारो परदेशी !
घर की तीखी करुण बेकसी तनिक बिसारो परदेशी !
आओ आओ सब दुख भूलो, हो तन्द्रान्त, परदेशी !
मेरे निर्जन शून्य कुंज में स्वागत स्वागत परदेशी !

—इलाचन्द्र जोशी ।

गाय

शान्ति-साधु-सुभाव-पूरित नेह को धरि देह ।
हरत विचरत हृदय पावन करत हिन्दुन गेह ॥
अचल धैर्य सहिष्णुता तुअ धन्य हे गो मात !
जगत की हिनकारिणी तुअ सम तुही विख्यात ॥ १ ॥

पान करि शुचि दुग्ध तेरो मुग्ध हावत प्राण ।
करत वसुधा को सुधा-सम घीव जीवन-दान ॥
हरत बहु रुज तक्र तेरो जननि चक्र-समान ।
करहि तुअ नवनीत को, गुन गीत को कवि गान ॥ २ ॥

धारि उर सन्तोष नित शुचि पात वृन जल खात ।
सुरस गोरस घृत मिलित पुनि अमृत सम टपकात ॥
जाय सन्तति रत्न बहु अति यन्न सों दुख पाय ।
देत जग उपकार करिवे हेत तिनहिँ लगाय ॥ ३ ॥

करत जो उपकार जग को जोति भूमि अपार ।
खात भुस निज, देइ हम कहँ भरे पडरस थार ॥
जहँ न हय गज काम आवत भागि जावत दूर ।
पीठ पै ले हमहिँ पहुँचत तहहुँ तुअ सुत सूर ॥ ४ ॥

अन्न वस्त्रादिक नरन को सकल सुख सामान ।
करत मा तुअ सुवनगन ही हमहिँ सब विधि दान ॥

अरबवासी अश्व चाहत श्वान ईंगलिस्तान ।
आण हिन्दुस्तान को है गाय नेह-निधान ॥ ५ ॥

सभ्य जग जन घृणित यद्यपि मात गोबर तोर ।
उर्वरा तौहूँ धरा को करत वाहि अथोर ॥
सुलभ ईंधन रूप धरि करि पाक भोजन पान ।
रङ्क राउ समस्त को हित करत एक समान ॥ ६ ॥

मरे हू पै चाम तेरे काम आत हजार ।
ग्रन्थ-बन्ध उपानहादिक रूप में सुख सार ॥
अस्थि खुर शृङ्गादि एको अङ्ग नहिँ नाकाम ।
भूमि का रस मूल तुअ मृत देह धूल ललाम ॥ ७ ॥

तोहि बिन किमि होत मात वसन्त रुज को अन्त ।
घटि सकत किमि तोहि बिन जग सोथ रोग तुरन्त ॥
खोइ हिन्दू पातकी निज धर्मरूपी वित्त ।
लभत कैसे मात तुअ बिन पाप प्रायश्चित्त ॥ ८ ॥

पय-पियावत जननि हमको छै महीने मात्र ।
जन्म भर पय दे करत तू पुष्ट हमरो गात्र ॥
जन्मदात्री जननि हूँ सो उच्च तुअ सम्मान ।
करैं किमि तुअ अर्चना हम तथा गुण-गण-गान ॥ ९ ॥

१ किताबों की जिल्दबन्धी, जूता इत्यादि ।

खोजि देख्यों विविध विधि में अखिल अवनी माहिँ ।
 तुअ सदश उपकारिणी अघहारिणी कोउ नाहिँ ॥
 मरत मानव जगत के जब करत हाहाकार ।
 तरत वैतरणी धरत तुअ पूँछ लगत न बार ॥१०॥
 अम्ब तू निस्वार्थ को तनुधारिणी आदर्श ।
 ऋणी तुअ सब भौँति है यह भव्य भारतवर्ष ॥
 अहहि दानव सो न मानव गहहि न जु गो-भक्ति ।
 दरन को दुख मरन दारिद चरण में तुअ शक्ति ॥११॥
 देव हिन्दुन को न दूजा करन पूजा हेत ।
 पात मेवा मातु-सेवा करत जो दै चेत ॥
 मातु भारत को तुही गो-मात सबहिँ प्रकार ।
 जो न सेवत तोहि ताको लाख विधि धिक्कार ॥१२॥
 — लाचनप्रसाद

आदर्श वैष्णव ❀

वैष्णव जन तो उसको कहिए पीर पराई जो जाने ।
 पर-दुख में उपकार करे पर मन में गर्व न जो आने ॥
 जो नहिँ निन्दा करै किसीकी, श्रद्धा सबपर रखे घनी ।
 तन, मन, वचन रखे जो पावन, धन्य धन्य उसकी जननी ॥

❀ नरसी मेहता की प्रसिद्ध गुजराती कविता का भावानुवाद ।

हो समदृष्टि तजे वृष्णा जो कभी असत्य न कहे सुजान ।
 माता-सम पर-नारी जिसको, पर-धन जिसको धूल-समान ॥
 माया-मोह न व्यापे जिसको, जिसके मन में दृढ़ वैराग ।
 राम नाम से सुरत रखे जो सकल-तीर्थ-मय वह बड़-भाग ॥
 निर्लोभी जो कपट-रहित है, काम-क्रोध जिसने मारे ।
 उसके दर्शन से 'नृसिंहजन' निज इकहत्तर कुल तारे ॥

—लोचनप्रसाद ।

माता का विलाप *

[१]

निराधार तज मुझ वृद्धा माता को हा ! सुत प्यारे !
 कहाँ गया तू ? आकर बेटा ! मेरे प्राण बचा रे ॥
 पाकर क्या धन-राज-पाट-सुत ! भूल गया तू मुझको ?
 या भिक्षुक हो घर फिरने में लज्जा आती तुझको ?
 अथवा वत्स ! समाधि-भूमि में की तूने निज शय्या ।
 बची हुई है जीती क्यों हा ! तो यह तेरी मय्या ?
 तेरी कुछ भी ठीक खबर जो सुत ! मुझको लग जाती ।
 मैं न नाम तेरा ले रो रो तुझपर दोष लगाती !

❀ कवि Wordsworth कृत The Affliction of Margaret नामक कविता का भावानुवाद ।

(२६४)

[२]

बीते वर्ष सात पर अब तक सुत इकलौता मेरा ।
इस अभागिनो माता ने कुछ हाल न पाया तेरा !
तेरे मिलने की आशा तज कभी विकल होती हूँ ।
रो रोकर तेरी सुध में तनु आँमू से धोती हूँ ॥
कर विश्वास जनरवों पर मैं कभी धैर्य धरती हूँ ॥
तेरे मिलने की आशा से मन के दुख हरती हूँ ॥
किन्तु हाय ! आकाश-पुष्पवत् भूठी है यह आशा ।
निशि-सम छाई है मन में मम दुविधा और निराशा ॥

[३]

भूल रही है आँखों में बेटा ! तेरी सुघराई ।
मनमोहिनी मूर्ति वह तेरी जन-मन को सुखदाई ॥
तेरी विद्या शौर्य सरलता धार्मिकता चतुराई ।
एक एक से बढ़कर थीं मैं किसको करूँ बड़ाई ॥
मातृ-भक्ति शीलता विनय वह निष्कलङ्क तरुणाई ।
सदा दिलाती रही जगत में मुझको विविध बड़ाई ॥

[४]

क्रीड़ा करते चिल्लाता शिशु जब उमङ्ग में आके ।
ज्ञात अहो क्या उस शिशु को तब दुख अपनी माता के !
वह तो सुख से चिल्लाता है पर उसकी वह बोली ।
घर में माता के उर में लगती है जैसी गोली ॥

माता की यह दशा स्वप्न में भी बालक क्या जाने ।
 नहीं कल्पना के द्वारा भी वह इसको अनुमाने ॥
 मा की दुख-चिन्ता सुत के बढ़ने पर अधिकाती है ।
 किन्तु प्रेम की मात्रा उससे कभी न घट जाती है ॥

[५]

“जा तू भूल मुझे, अच्छा है” अब न कहूँ मैं ऐसा ।
 भोग चुकी मैं इस घमण्ड से मिला मुझे दुख जैसा ॥
 हो गर्वान्ध कहा मैंने “चाहे हो दुर्गति मेरी ।
 पर बेटा दे दोष तुझे, निन्दा न करूँगी तेरी ॥
 त्यागा तूने मा को यदि तो भी मैं कुछ न कहूँगी ।
 जो जो मुझपर पड़े दुःख सब धरकर धैर्य सहूँगी” ॥
 पर माता का प्रेम वत्स ! तुझपर था इतना भारी ।
 नहीं किसीसे अब तक मैंने किया दुःख यह जारी ॥
 तेरे विरह-दुःख से सुत कितना मैंने मन ही मन ।
 (नहीं जानता कोई) रो रो आँसू से धोया तन ॥

[६]

दरिद्रता से घिरकर क्या तू अपमानित होता है ?
 या यश से वञ्चित हो बेटा ! तू निशिदिन रोता है ?
 अतः जगत में निन्दित होने को क्या तू डरता है ?
 मुझको मुँह दिखलाने को हा ! लज्जा से मरता है ॥

उन बातों के लिए सोच मत बंटा ! कर तू जी में ।
 सुख एकान्त मुझे तो है बस तेरे आने ही में ॥
 धन दौलत यश लेकर हा ! अब क्या करना है मुझको !
 सब मिल जावे, सुत ! पा जाऊँ जो मैं केवल तुझको ॥
 तुच्छ मुझे हैं सब भौतिक आडम्बर विभव बड़ाई ।
 देख चुकी सम्पत्ति और उसके गुण तथा बुराई ॥

[७]

हाय ! खगों के—नहिं मानव के—पङ्खे मुझे लखावैं ।
 पुनः वायु से भी उड़ने में वे सहायता पावैं ॥
 चढ़ वे वायु-यान में सुख से उड़ पल भर में जावैं ।
 अपने प्रेमी प्रीतम जन से मिल निज व्यथा मिटावैं ॥
 जल-थल के बन्धन से बंधे हुए हैं मानव सारे ।
 गिरि, वन, उदधि पड़े हैं मग में राह रोक सुत प्यारे !
 “हो तू जहाँ वत्स ! सुख से रह” यही कामना मेरी ।
 किन्तु शुष्क इस इच्छा से क्या विपद कटेगी तेरी !

[८]

किमी क्रूर निर्दय मानव नामी दानव के द्वारा
 क्षत-विक्षत हो बहा रहा क्या तू आँसू की धारा ?
 सड़ता हुआ किसी बन्दी-गृह में सुत ! विधि का प्रेरा ?
 अथवा किसी सिंह के शून्य गुफा में तू निज डेरा—

किया हुआ है, किसी मरुस्थल में सहते दुख भारी
 असौभाग्य-वश ! या हा ! तेरे साथी सब नर-नारी—
 सहित वत्स ! तू अगम उदधि के उदर बीच सुखकारी
 चिरनिद्रा में निद्रित है तज मेरी चिन्ता सारी ?

[९]

मृत आता या प्रेतों पर विश्वास वत्स ! लाती हूँ ।
 किन्तु कभी दर्शन मैं उनका हाय ! नहीं पाती हूँ ॥
 मुझे सत्यता नहीं दिखाती कुछ भी इस वाणी में
 कि था कभी संसर्ग लेश जीवित औ मृत प्राणी में !
 हाय ! नहीं तो क्या मैं उसका दर्शन कभी न पाती ।
 जिसकी बाट जोहती मैं हूँ निशिदिन क्लेश उठाती ॥
 मेरी प्रेम तथा उत्कण्ठा सुत की प्रेतात्मा के ।
 आकर्षित कर दिखला देती उसकी इस माता के ॥

[१०]

कभी किसीके पद का आहट जो मैं सुन पाती हूँ ।
 तुम्हको आया जान द्वार पर शीघ्र दौड़ जाती हूँ ॥
 किन्तु वहाँ जाकर बेटा ! मैं नहीं किसीके पाती ।
 विविध भाँति के भय से भर जाती है मेरी छाती ॥
 पूछा करती हूँ मैं उसको जो सम्मुख है आता ।
 पर न मुझे कोई भी बेटा तेरी खबर बताता ॥

कभी नहीं कोई सुनता है मेरे दुख की बातें ।
रो रोकर व्यतीत करती हूँ बेदा ! मैं दिनरातें ॥
आश्वासन-वाणी तक का भी मिलता नहीं सहारा ।
अति निष्ठुर प्रतीत होता है मुझको यह जग सारा ॥

[११]

नहीं बँटा सकता है कोई दुख तेरी जननी का ।
अच्छा और न होगा बेदा ! विरह-घाव इस जी का ॥
है जब पथिक गणों की मुझपर कभी दृष्टि पड़ जाती ।
मुझपर—किन्तु न मेरे दुख पर—उन्हें दया है आती ॥
आ बेदा ! तू आँखें मेरी तुझको देख जुड़ावै ।
या कुछ खबर भेज जिससे ये दुःख न मुझे जलावै ॥
जिधर देख तू उधर स्वार्थ का पड़ा हुआ है डेरा ।
तेरे बिना सहायक जग में और न कोई मेरा ।

—लोचनप्रसाद ।

सर्वग्रासी काल

[१]

इस भव-रङ्ग-भूमि पर कोई रहा न रहने पावेगा ।
निज निज अभिनय पूरा कर सब लौट समय पर जावेंगे ॥
यह भौतिक शरीर क्षणभंगुर मिट्टी में मिल जावेगा ।
केवल शुभ या अशुभ कर्म ही उनकी याद दिलावेंगे ॥

(२६९)

[२]

जग के स्मृति-पट पर अङ्कित हैं अमर वर्ण में जिनके नाम ।

पुण्यश्लोक वे भूपति-गण भी हुए काल के मुख के ग्रास ॥
पड़े रह गये हाय ! जहाँ के तहाँ राज, धन, सम्पति, धाम ।

उनके रत्नमुकुटधारी मस्तक पर अब ऊगी है घास ॥

[३]

अवधपुरी, कन्नौज तथा दिल्ली के दृढ़ प्रासाद बड़े ।

इन्द्रभवन लज्जित होते थे लख जिनकी सुघराई को ॥
कटु भल्लूक-शृगाल-रुदन में, जीर्ण-शीर्ण हो, खड़े खड़े ।
देते हैं वे आज बधाई वक्र काल-कुटिलाई को ॥

[४]

सबकी भाग्य-डोर निज कर में रखने की करके अभिलाष ।

जो ले सैन्य दिग्विजय करने को फिरते हैं देश-विदेश ॥
दुःख विजित लोगों को दे करते हैं जो उनका उपहास ।
नहीं जानते क्या वे यम के कर में है उनका ही केश ॥

[५]

दाम्भिक नर कर गर्व हृदय में कुटिल काल की गति को भूल ।

गढ़ता है कल्पना-जगत में आशा का उपवन सहुलास ॥
किन्तु हाय ! उसके इस सुख को करने को पल में निर्मूल ।
मन ही मन हँसता रहता है जन्तुराज^१ छिप उसके पास ॥

१ यम, काल ।

(२७०)

[६]

सिर पर कालचक्र फिरता है सतत, जानकर भी यह लोग ।

वातुल-वन होकर लड़ते हैं एक दूसरे से तज नेह ॥

तुच्छ स्वार्थ के कारण देके व्यर्थ कलह में नर मन योग ।

क्यों करते हैं, भ्रातृ-भाव तज, लाञ्छित अपनी निर्मल देह ?

—लोचनप्रसाद ।

एकान्त-वास का सुख*

(१)

जग में केवल वही पुरुष है सुखी कहाता ।

धन या यश का लोभ न जिमका जी बहकाता ॥

चिन्ता जिमसे जोड़ न सकती है निज नाता ।

जिसे न तज सन्तोष कहीं क्षण भर भी जाता ॥

जो निज पैतृक स्वल्प भूमि को कमा प्रेम से ।

वसता है निज जन्म-भूमि में सदा क्षेम से ॥

(२)

खेतों से शुचि अन्न दुग्ध गो से बलकारी ।

लभ्य उसे फल-शाक सदा वन से रुजहारी ॥

* Pope कवि कृत Happiness of Retirement
नामक कविता का भावानुवाद ।

(२७१)

मिलती है मृदु ऊन उसे भेड़ों के द्वारा ।
उसका वस्त्राभाव मिटाती है जो सारा ॥
उसके तरुवर ठण्ड शीत-ऋतु में हरते हैं ।
शीतल छाया-दान उसे तप में करते हैं ॥

(३)

धन्य पुरुष वह जिसे नहीं है चिन्ता नाना ।
सुख से जो निश्चिन्त सदा रहता मनमाना ॥
क्रम क्रम घटे दिवस तथा वर्षों के फेरे ।
ढल जाते हैं शान्ति-पूर्ण उसके बहुतेरे ॥
कर सकता है रोग न दूषित उसके तन को ।
नहीं अशान्ति की अग्नि जलाती उसके मन को

(४)

निशि में वह निश्चिन्त नींद सुख की सोता है ।
ग्रन्थों का कर पठन हृदय का मल धोता है ॥
कर बहु क्रीड़ा-खेल थका मन बहलाता है ।
यों श्रम की रुचि नित्य नई वह प्रकटाता है ॥
पाप-कर्म को त्याग धर्म नित आचरता है ।
सदा प्रेम से ध्यान ईश का वह धरता है ॥

(५)

इस प्रकार निश्चिन्त, जन्म मेरा कट जावे ।
मुझे न कोई लखे न कोई मम गुण गावे ॥

(२७२)

जग की भङ्गट कभी एक भी पास न आवे ।
मम मन-मन्दिर-मध्य शान्ति नित आश्रय पावे ॥
मरने पर मम हेतु न कोई अश्रु बहावे ।
नहिं समाधि की शिला कहीं मम चिह्न बतावे ॥

—लोचनप्रसाद ।

नीति-सार

(१)

है ज्ञात हाती जगत में अभिय सदा हित की कथा ।
सब भाँति दुर्लभ है वचन हितकर मनोहारी तथा ॥

(२)

प्रकटित किया करता कभी है एक जन कोई प्रथा ।
करते पुनः हैं और सब अनुकरण उसका सर्वथा ॥

(३)

निर्दोष अपने को जगत में सोचते हैं नर सभी ।
होते नहीं मात्स्य अपने दोष अपने को कभी ॥

(४)

पाया न जाता लोग दूषण-रहित जग में एक भी ।
गुण-दोष-मय है विश्व की कौशल-मयी रचना सभी ॥

(२७३)

(५)

किसको न हा ! हा ! रोग-रूपी अग्नि ने तापित किया ।
सुख-सुधा-पूरित पात्र किसके हाथ में विधि ने दिया ॥

(६)

है शुष्क यश के सङ्ग अर्धासन रहै प्रतिभा सदा ।
हैं दुःख से रहते धिरे नर पूजते जो शारदा ॥

(७)

हो शक्ति जिसकी अहो ! जितनी जानता उसको वही ।
होता नहीं है सर्वदा अनुमान लोगों का सही ॥

(८)

होती गतायुष को सुधा ही हाय ! निष्फल सर्वथा ।
हरि की दया से निमिष में ही दूर हो मरण-व्यथा ॥

(९)

जो भाल में है लिखित वह फिर मिट नहीं सकता कभी ।
हैं उदधि में तिनके सदृश नर भाग्यसागर में सभी ॥

(१०)

किसको हुई है तृप्ति कब जग-जनित भोग-विलास में ।
सुख की अपेक्षा सुख अधिक है नित्य सुख की आश में ॥

(११)

विपरीत लख पड़ती जगत की गति दुखी जन को सदा ।
क्या जान सकते हैं सुखी जन दुखी जन की आपदा ॥

(२७४)

(१२)

सुख नाम को है जगत में दुख-पूर्ण यह संसार है ।
सहना हज़ारों कष्ट पर रहना यहाँ दिन चार है ॥

(१३)

जन सर्व-सुख-सम्पूर्ण ऐसा कौन है इस लोक में ?
धन, मान, या जन-हित न किसका मन पड़ा है शोक में ?

(१४)

निज सुख-कथा-जिज्ञासनार्थ रहा न जाता मौन है ।
निज शुभ-श्रवण के हेतु नित रहता न उत्सुक कौन है ॥

—लोचनप्रसाद ।

कृषक

(१)

हे हे कृषक सुजान ! बता तू सच मुझे,
होते मेरे प्राण मुदित क्यों लख तुझे ?
तुझमें ऐसी कौन विलक्षण शक्ति है,
उपजाती जो सहज हृदय में भक्ति है ॥

(२)

विश्व-सरोवर का तू सुरभित पद्म है,
सहिष्णुता सारल्य सत्य का सद्म है ।
है आडम्बर-शून्य सद्गुणागार तू,
शुचि-सुशीलता-शान्ति-सौख्य-आधार तू ?

(२७५)

(३)

मन तेरा निर्लोभ, सरस, गत-रोष है,
थोड़े में भी सदा तुझे संतोष है ।
तेरा आत्म-त्याग अतुल है सर्वथा,
देख न सकता कभी किसीकी तू व्यथा ॥

(४)

कोमल तेरा हृदय दया का धाम है,
करने में परमार्थ तुझे आराम है ।
हल ही तेरा खड्ग, खेत रणभूमि है,
स्वर्ग-सदृश सुख-मूल तुझे वनभूमि है ॥

(५)

कहता तुझे असभ्य सभ्य संसार है,
पर तू उसका भ्रात ! जीवनाधार है ।
तज दे यदि तू कभी प्रकृत निज धीरता,
रहे न भोग-विलास सभ्यता का पता !

(६)

तुझसे जिनके लगे समस्त विलास हैं,
करते तेरा वही हाय ! उपहास हैं ।
देता सुख तू जिन्हें सहन कर आपदा,
देते हैं दुख वही अहो ! तुझको सदा ॥

(२७६)

(७)

मानो सारी मही तुझे परिवार है,
अहंकार तव सदा विश्व-उपकार है ।
भूषण तेरा सरल सत्य-व्यवहार है,
श्रम, संयम, उत्साह गले का हार है ॥

(८)

ईर्ष्या, छल, आलस्य, द्वेष, मत्सर, तथा
रहते तुझसे दूर दोष ये सर्वथा ।
निर्मल तेरा दोष-विहीन स्वभाव है,
तुझमें दूषण एक दूषणाभाव है ॥

(९)

मिलते तुझको अहह ! अनेकों कष्ट हैं,
करते तेरा सौख्य दुष्टजन नष्ट हैं ।
छल-मिथ्या से पूर्ण सकल संसार है,
भोले-भालों का न यहाँ निस्तार है ॥

(१०)

जहाँ देखते वहीं कपट-वर्ताव है,
नहीं कहीं पर सत्य-पूर्ण सद्भाव है ।
बाह्याडम्बर-पूर्ण बुरा व्यवहार है,
जग में दुर्लभ स्वार्थ-रहित उपकार है ॥

(२७७)

(११)

करता तेरा यदपि आज गुण-गान हूँ,
कृषक ! किन्तु मैं कपटी कुटिल महान् हूँ ।
मुख में मेरे राम, बगल में है छुरी,
पर-पीड़न मम धर्म, कपट है चातुरी ॥

—लोचनप्रसाद ।

ययाति और पुरु

(१)

श्रीशुक्र-शापानल-तप्त होके,
अकाल में यौवन-रूप खोके ।
ययाति पृथ्वीपति एक बार,
हुए जराक्रान्त दुखी अपार ॥

(२)

“असह्य पीड़ा यह सर्वथा है,
जरा नहीं हा ! मरण-व्यथा है ।
लगे अहो वे इस भाँति रोने,
शोकाश्रु से स्वीय शरीर धोने ॥

(३)

“जो पुत्र कोई निज तात-अर्थ,
लेने जरा को तव हो समर्थ ।

(२७८)

होके पुनः यौवन-रूप-युक्त ,
तो हो सकोगे नृप ! शाप-मुक्त ॥”

(४)

यों शुकजी की कर बात याद ,
था दूर होता उनका विषाद ।
हो लोक-निन्दा-भय से अधीर ,
स-मौन थे वे दहते शरीर ॥

(५)

सुशक्ति से वञ्चित सर्व भौंति ,
निर्जीव से यद्यपि थे ययाति ।
तथापि थी भोग-नृपा नितान्त ,
न काम होता वय से प्रशान्त ॥

(६)

“युवा अवस्था सुख-भोग-सार ,
कैसे सकूँ मैं उसको विसार ?
अकीर्ति चाहे मम हो अशेष ,
चिन्ता मुझे है उसकी न लेश ॥

(७)

आज्ञा सुतों को अविलम्ब दूँगा ,
जरा उन्हें दे विपदा हखूँगा” ।
यों भूप बोले निज चित्त ठान ,
कामार्त को है रहता न ज्ञान ॥

(२७९)

(८)

अतः उन्होंने तज धर्म-रीति ,
वात्सल्य, सत्प्रेम, तथा सुनीति ।
चारों सुतों को अपने बुलाया ,
न स्वार्थ ने अन्ध किसे बनाया ?

(९)

न सोच सन्तान-व्यथा घनिष्ठ ;
सुधारने को निज कार्य इष्ट ।
बोले पुनः यों वसुधाधिराज ,
कामार्त को है रहती न लाज ॥

(१०)

“प्यारे सुतो ! धार्मिक धीर मेरे,
आज्ञानुकारी वर-वीर मेरे ।
क्या दग्ध-सा हो मुनि-शाप-मारे ,
मैं दुःख भोगूँ रहते तुम्हारे ?

(११)

“न क्लेश मेरे तुम क्या हरोगे ?
न क्या जरा-मुक्त मुझे करोगे ?
न क्या हरोगे विषदा निराशा ?
छूटी किसे है सुख-भोग-आशा ?

(२८०)

(१२)

“मत्पुत्र पाँचों सम हो मदर्थ,
परन्तु हो चार तुम्हीं समर्थ ।
अतः जरा को शत-वर्ष-हेतु,
लो पुत्र कोई मम वंश-केतु” ॥

(१३)

ययाति की यों सुन बात सारी,
गई सुतों की सब बुद्धि मारी ।
वे चित्र की भाँति जहाँ तहाँ ही,
रहे खड़े पा दुख चित्त-दाही ॥

(१४)

आज्ञा पिता की अनुलंघनीय,
है सौख्य से भी पर-मोह स्वीय ।
कैसे तजें हा ! हम भोग-आशा,
किसे न होती सुख की पिपासा ?

(१५)

‘नहीं’ कहें जो हम तो अरिष्ट ,
जो ‘हाँ’ कहें तो दुख हो घनिष्ठ ।
ऐसा करें हा ! हम कौन कर्म,
दोनों रहें जो सुख और धर्म ॥

(२८१)

(१६)

विचार ऐसा हत-बुद्धि होके,
हुए सभी शङ्कित धैर्य खोके ।
रहे सभी हो नृप-पुत्र मौन ,
है त्यागता सौख्य परार्थ कौन ?

(१७)

दशा सुतों की यह भूप देख ,
दुखी हुए क्रोधित हो विशेष ।
लगे उन्हें वे फिर शाप देने ,
संसार में घोर कलङ्क लेने ॥

(१८)

था पाँचवाँ जो नृप-पुत्र प्यारा ,
स्व-तात का सो सुन हाल सारा ।
आनन्द से नाच उठा सतोष ,
मयूर जैसे सुन मेघ-घोष ॥

(१९)

त्यागी, पिताभक्त, शिशुप्रधान ,
बोला सुखी हो मन में महान—
“शरीर आया यह तात-काज ,
हुआ अहा ! सार्थक जन्म आज ॥”

(२८२)

(२०)

तुरन्त जाके फिर सानुराग ,
गम्भीरता से पुरु स्वार्थ त्याग ।
बोला पिता से अति मिष्ट वाणी ,
सभक्ति जोड़े निज युग्म पाणी ॥

(२१)

हे तात ! छोड़ो दुख सोच सारे ,
न दग्ध होओ मुनि-शाप मारे ।
आज्ञा तुम्हारी सब पालनार्थ ,
खड़ा हुआ है पुरु त्याग स्वार्थ ॥

(२२)

है तात का सेवन पुत्र-धम ,
है तात-सेवा सुत-श्रेष्ठ-कर्म ।
है तात-सेवा-हित ही शरीर ,
हो क्यों उसीसे फिर व्यर्थ पीर ॥

(२३)

हरें न पीड़ा हम जो तुम्हारी ,
बन्ध्या न तो क्या जननी हमारी ?
पिता दुखी हों रहते हमारे ,
तो हा ! वृथा क्यों हम जन्म धारे ॥

(२८३)

(२४)

अग्राह्य है पार्थिव सौख्य-भोग ,
स्वीकार है यौवन का वियोग ।
है मृत्यु भी ग्राह्य मुझे विशेष ,
न सह्य है हा ! पर तात-क्लेश ॥

(२५)

है मत्प्रतिज्ञा शत-वर्ष-काल ,
जरा मुझे स्वीकृत है, नृपाल !
व्यथा पिता की जड़ से हूँ मैं ,
आज्ञा यथा होय तथा करूँ मैं ॥

(२६)

स्वपुत्र-वाणी सुनके पवित्र ,
दशा हुई भूपति की विचित्र ।
पड़ा बड़ा ही उसका प्रभाव ,
हुए हिये जात अनेक भाव ॥

(२७)

औदार्य ऐसा पुरु का समर्थ ,
तारुण्य त्यागा निज तात-अर्थ ।
लिया जरा को उसने प्रहृष्ट,
न किन्तु त्यागा निज धर्म इष्ट ॥

(२८४)

(२८)

आदर्श कैसी यह तात-भक्ति !
अपूर्व कैसी यह त्याग-शक्ति !
सत्पुत्र होगा तुझसा न अन्य ,
संसार में तू पुरु धन्य धन्य !!

—लोचनप्रसाद ।

तुलसीदास और रामायण

(सोहनी)

सुलभ कर गये ब्रह्म का ज्ञान,
तरने को भव-सिन्धु बनाया राम-नाम-जलयान ॥ १ ॥
दृश्य-अदृश्य अलौलिक-लौकिक मिले एक ही ठाँव ।
भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि आ बसे एक ही गाँव ॥ २ ॥
स्वार्थ और परमार्थ मिलाया, हुआ सार निःसार ।
अनुभव की कुञ्जी से खोला अगम मुक्ति का द्वार ॥ ३ ॥
मोह-शिखर पर फँसे जनों को सीढ़ी है तैयार ।
गिरने का है डर न जरा भी राम-नाम आधार ॥ ४ ॥
रोम रोम में रमा तुम्हारे राम-रूप संसार ।
भक्ति-प्रेम-अवतार ! धन्य है तुमको बारम्बार ॥ ५ ॥

—बदरीनाथ भट्ट ।

(२८५)

जीव-दया

(१)

शीघ्र हटा लो चपल चरण को, कुचल न जावै कीट अधीन ।
घृणा तुम्हें जिससे है, वह तनु भी, प्रभु-कृत है ए मतिहीन !

(२)

जगत-मात्र के परम पिता से, जीवन तुमने पाया है ?
उसी ईश ने अगम-दया का, इसपर स्रोत बहाया है ॥

(३)

बिना लिये कर रवि-शशि-तारे, सबके लिए बनाये हैं ।
सभी साज तेरे हित उसने, पृथ्वी पर फैलाये हैं ॥

(४)

अल्प दिनों का सुख लेने दो, पाने दो परिमित आनन्द ।
जो जीवन नहिँ दे सकता है, क्यों उसको लेता मतिमन्द ॥

—मन्नन द्विवेदी गजपुरी ।

शव-शिला-लेख*

दर्शक ! बिलमो नेक, एक दीनों का साथी ;
जिनका उसे सदैव सोच अतिशय चिन्ता थी ॥
वही बिचारा यहाँ, नींद अन्तिम है सोवै !
कविता-देवी हाथ ! विकल हो होकर रोवै ॥

* 'स्वदेश-बान्धव' से ।

नदी, भील, आकाश प्रकृति-शोभा के सागर ,
भरते उसका हृदय नई लहरों में आकर ॥
क्लेश दुःख आपत्ति सहैं जो दीन विचारे ,
कविता के थे विषय, उसे वे थे अति प्यारे ॥

नीच-वर्ग के दास, नरेश, भिखारी, निर्धन ,
विषयी, मूर्ख, किसान, अभागे, अपराधी जन ,
दुखी, दीन, मजदूर, कुली, मानव-अन्यायी ,
शिक्षा थोड़ी-बहुत सभी से उसने पायी ॥

ईश्वर की कृति जान, घृणित निन्दित प्राणी का—
भी उसने सम्मान किया, जैसे ज्ञानी का ॥
दीन-दुःख कर दूर जिन्होंने धर्म निबाहा ,
उसने उन्हें सदैव सप्रेम हृदय से चाहा ॥

पर जो हृदय-कठोर, दीन का द्रव्य कमाया ;
जिसने उसके लिए स्वेद अरु रक्त बहाया ;
लूटें कर अन्याय, दुष्ट-मति ऐसे जन से ,
करता था वह घृणा, दूर रहता निज मन से ॥

दीनों के दुख देख, दूर उनके करने हित ,
तन-मन-धन सर्वस्व किया उस कवि ने अर्पित ॥
जो हैं जैसे लोग, दोष जिनमें जैसा है ,
वर्णन उसने किया ठीक उनका वैसा है ॥

देखो, प्यारे पथिक ! वही दीनों का प्यारा ,
लेता है चिर-शान्ति, त्याग जग-भङ्गट सारा ॥

—नर्मदाप्रसाद मिश्र ।

प्रेम की शक्ति

मानव-समाज में है देखिए न आँखें खोल—

दृश्य प्रेम के अमोल;

सावित्री सत्यवान ,

दंपतियुत नल महान ,

प्रेम के पक्के प्रमाण ।

आइए समीप और—

क्या है यह ताजमहल ?

यमुना का पावन जल धोता है चरणकमल—

जिनके वे प्रेमी युगल, रहे नहीं पृथिवी-तल ?

छोड़ गये हैं किन्तु प्रेम की वह सुन्दर स्मृति-

जिसे देखके स्तंभित हो जाता मनुष्य है ,

उन्नत मस्तक नत हो जाते उसके सम्मुख ।

चक्कर खाते सभी विदेशी ललित कला पर ,

कर लेते स्वीकार उसे अनुपम वसुधा पर ।

दर्शन से जिसके आज जगती नई है स्फूर्ति ,

प्रेम की विभूति ही वह प्रेम की ही प्रतिमूर्ति ॥

—नन्ददुलारे वाजपेयी ।

(२८८)

पागल

‘पागल है’, हॉ मैं पागल हूँ,
सच तो कहता है संसार ।
देखा ही उसकी आँखों से
कब मैंने उसका व्यापार ?
मेरी चिन्ता क्यों करता है
मुझे छोड़ दे जग एकान्त ।
पागलपन ही मेरा जीवन,
मैं पागलपन पर उद्भ्रान्त ॥
—श्रीरत्न शुक्ल ।

शील*

(१)

संग्रह करो करोड़, लुटाओ धन अनगिन्ती ,
ऊँचे आसन बैठ, सुनो दासों की बिन्ती ;
निज प्रभुता के हेतु, करो तुम सब कुछ नीका ,
किन्तु शील के बिना, सभी है जग में फीका ॥

(२)

कहते हैं कवि लोग शील भारी भूषण है ।
शील-हीन नर भूमि-भार निज-कुल-दूषण है ॥

* ‘हितकारिणी’ से ।

(२८९)

दान, मान, यश, रूप, शूरता, साहस, बाने ;
मोती-सम हैं सगुण, शील-माला के दाने ॥

(३)

शब्द-कोष में 'शील' शब्द व्यापक है इतना ,
गीता में भी धर्म नहीं है व्यापक जितना ।
आगे रखकर शील, धर्म निज गुण दरसावै ।
गुण-वाचक सब नाम, अकेला शील बनावै ॥

(४)

शील नम्रता सबल, सत्यता है अति प्यारी ।
न्याय-सहित है दया, प्रेम-पूरण-अविकारो ॥
सदाचार है शील, शील विद्या पढ़ना है ।
तन-मन-धन से सदा, शील आगे बढ़ना है ॥

(५)

शील सत्य, वैराग्य दण्ड यति का धारण है ।
यही यज्ञ, व्रत, कर्म, परम-पद का कारण है ॥
यही ज्ञान, विज्ञान, यही है गुण चतुराई ।
ऊँचे कुल का चिह्न, देह-मन की रुचिराई ॥

(६)

सब धर्मों का एक शील है छिपा खजाना ।
अवगुण काले नाग, जानते नहीं ठिकाना ॥

(२९०)

धर्म शील के बिना, यथार्थ धर्म नहीं है ।
शीलवान को सकल, स्वर्ग-आनन्द यहीं है ॥

(७)

शील त्याग नर वृथा, धर्म का अभिलाषी है ।
अपना अन्तःकरण, सत्य इसका साखी है ॥
कपट, क्रोध, अभिमान, न हिय से जिनके छूटा ;
पुण्य उन्होंने कौन, जगत में आकर लूटा ?

(८)

जिसने आदर-सहित गुणी को नहीं बिठाया ;
दीन-प्रणाम विलोक, हाथ कुछ भी न उठाया ;
मधुर वचन सुन, मधुर वचन जो कभी न बोला ,
विधि ने किया अनर्थ, दिया उसको नर-चोला ॥

(९)

विद्या, बढ़ती जिन्हें नहीं दीनों की भाती ,
जिनकी इच्छा कुटिल, आप-सुख में है माती ;
करें न जो स्वीकार, दया अपने छोटे की ,
धर्म करेंगे भला, कौन ये लोग कुटेकी ?

(१०)

अपने चारों ओर, देख दुख-दारुण छाया ,
एक विपल भी जिन्हें, दुखी का ध्यान न आया ;

(२९१)

जिन्हें परोदय देख, कष्ट होता है भारी ;
क्या है जग को लाभ हुए जो वे अधिकारी ?

(११)

निज भाषा का प्रेम, धर्म-रति, देश-भलाई
होकर सब सम्पन्न, जगत में जिन्हें न भाई,
जीभ दबाकर बात, जिन्होंने सदा उचारी
ऐसे ही नर बने हुए हैं धर्माचारी ॥

(१२)

सब धर्मों को छोड़, शील-व्रत ही अब धारो ।
शील धर्म है गिरा हुआ, अब इसे उबारो ॥
बीज कपट का बोय, सत्य-फल कहाँ मिलैगा ?
अहो शिला पर, कहो कमल, किस भाँति खिलैगा ?

—कामताप्रसाद गुरु ।

मातृ-भूमि ❀

(१)

जन्म दिया माता-सा जिसने
किया सदा लालन-पालन ।
जिसकी मिट्टी जल आदिक से
विरचित है हम सबका तन ॥

❀ “मर्यादा” से ।

(२९२)

(२)

उसके त्रिविध पवन के झोंके
चहुँदिशि निशिदिन चलते हैं ।
शायित सुअनों के सुखकारक
सुभग बीजना झलते हैं ॥

(३)

गिरिवर-गण रक्षा करते हैं
उच्च उठा निज शृङ्ग महान ।
जिसकी लता-द्रुमादिक करते
हैं हमको निज छाया दान ॥

(४)

कलकल शब्द मनोहर करती
शोभित सरिता छवि भारी ।
बिना लिये कर जो देती है
शीतल जल शुभ सुखकारी ॥

(५)

माता केवल बाल-काल में
निज अङ्गम में धरती है ।
हम अशक्य जब तक तब तक ही
पालन-पोषण करती है ॥

(२९३)

(६)

मातृ-भूमि करती हम सबका
पालन सदा मृत्यु-पर्यन्त ।
जिसकी दया-प्रवाहों का नहिं
होता है सपने में अन्त ॥

(७)

मरने पर भी कण देहों के
उसमें ही मिल जाते हैं ।
हिन्दू जलते यवन इसाई
ठौर उसीमें पाते हैं ॥

(८)

ऐसी मातृभूमि अपनी है
स्वर्ग-लोक से भी प्यारी ।
जिसकी रक्षा-हित तन-मन-धन
मेरा सर्वस बलिहारी ॥

—मन्त्रन द्विवेदी गजपुरी ।

(२९४)

आज और कल *

(१)

दयासिन्धु की दया प्राप्त कर , हुए अगर तुम बलशाली ,
बनो विनत पाओगे शोभा , जैसे डाली फलवाली ॥
मदालसी होकर हे भाई ! कभी न अपयश सिर लेना ।
कल की बात त्याग शुभ-कृति में , दान आज ही दे देना ॥

(२)

यदि विचार के प्रौढ़पने से , न्यायाधिप का पद पाओ ,
तो तुम हंस-न्याय की उपमा , सचची करके दिखलाओ ॥
जब तक हो अभियोग सशङ्कित , तब तक पातक से डरना ।
आज रोककर उस निर्णय को , कल निश्चय करके करना ॥

(३)

किसी कला में कुशल बने तुम , अथवा विद्या के भण्डार ,
तो कल्पद्रुम की समता कर , करना लोगों का उपकार ॥
होना तब तक शान्त कभी ना , हो ना जब तक सुखी समाज ।
कल का मन में ध्यान न लाना , सीख उसे सिखलाना आज ॥

(४)

बड़ा समझकर अगर किसीने , कुछ भी तुमसे लिया उधार ,
किसी हेतु से दिया न अब तक , तो तुम रहना बने उदार ॥

* “मारवाड़ी” से ।

(२९५)

जो कल देने कहता है तो , हित-घृत में क्यों आवै आँच ।
आज उसे ना कभी सताना , कल ही करना उसकी जाँच ॥

(५)

अपना जो अनुकूल मित्र हो , करै दोष तो जाना भूल ।
लेकिन उसपर लक्ष्य चाहिए , जो रहता हरदम प्रतिकूल ॥
छल-बल-कौशल से यदि वश हो , तो फिर रखना उसे सम्हाल ।
बदला कल पर नहीं छोड़ना , लेना, देखो, आज निकाल ॥

(६)

बुद्धि दैव ने दी है हमको , धन्यवाद दें उसको लक्ष ।
हित-अनहित अपना पहिचानें , भावी, भूत और प्रत्यक्ष ॥
यदि कोई कुछ कहै कि जिससे , होगा कलहादिक उत्पात ,
सुनकर बात आज तो उसकी , नित्य कहो कल उससे तात ॥

(७)

हाथ-पाँव में जब तक बल है , आँखों में है तेज प्रकाश ।
श्रवण-शक्ति है, बुद्धि उपस्थित , मन जब तक ना हुआ निराश ॥
दान-धर्म-उपकार आदि का , तब तक कर लो संग्रह साज ।
क्या जानें कल रही न कल तो , क्यों जाने देते हो आज ॥

(८)

सब कामों का समय नियत है , कहते हैं ऐसा धीमान ।
बोते हैं, लुनते फिर जैसे , समय देखकर चतुर किसान ॥

(२९६)

आज उचित करना है जिसका , करो आज उसको धर धीर ।

कल का जो हो काम आज क्यों , कल ही करना उसको “मीर”॥

—अमीर अली “मीर” ।

भरत*

(१)

हिमगिरि का उत्तुङ्ग शृङ्ग है सामने ।

खड़ा बताता है भारत के गर्व को ॥

पड़ती इसपर जब माला रवि-रश्मि की ।

मणिमय हो जाता है नवल-प्रभात में ॥

(२)

बनती हैं हिमलता कुसुममणि के खिले ।

पारिजात का ही पराग शुचि धूलि है ॥

सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में ।

सूर्य-ताप भी सदा सुखद होता यहाँ !!

(३)

हिम-सर में भी खिले विमल अरविन्द हैं ।

कहीं नहीं है शोच, कहाँ सङ्कोच है ॥

चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नदी ।

चन्द्रकान्त से ये हिमखण्ड मनोज्ञ हैं ॥

* ‘इन्दु’ से ।

(२९७)

(४)

फैली हैं ये लता लटकता शृङ्ग में ।
जटा-समान तपस्वी हिमगिरि की बनी ॥
कानन इसके स्वादु फलों से हैं भरे ।
सदा अयाचित देते हैं फल प्रेम से ॥

(५)

इसकी कैसी रम्य विशाल अधित्यका—
है, जिसके समीप ऋषि का आश्रम बना ॥
अहा ! खेलता कौन यहाँ शिशु-सिंह से
आर्य्य-वृन्द के सुन्दर सुखमय भाग्य-सा !!

(६)

कहता है उसको लेकर निज गोद में—
“खोल खोल मुख, सिंह-बाल ! मैं देखकर-
गिन लूँगा तेरे दाँतों को हैं भले ।
देखूँ तो कैसे यह कुटिल-कठोर हैं ॥”

(७)

देख वीर बालक के इस औद्धत्य को
लगी गरजने भरी सिंहनी क्रोध से ॥
छड़ी तान बोला सरोष शिशु यों तभी—
“बाधा देगी क्रीड़ा में यदि तू कहीं—

(२९८)

(८)

मार खायगी, और तुझे दूँगा नहीं—
इस बच्चे को कभी, अरी तू भाग जा ॥”
अहा ! कौन यह वीर बाल निर्भीक है ?
कहो, वृद्ध भारतवासी ! हो जानते ?

(९)

नहीं नहीं, तुम भय देते शिशु को सदा—
‘गो’ ‘गो’ कहकर तुम क्या जानो भूलते ।
यही ‘भरत’ वह बालक है जिस नाम से—
‘भारत’ संज्ञा पड़ी इसी वर भूमि की ॥

(१०)

कश्यप से शिक्षा पाकर सब वेद की ;
आश्रम में पलकर, कानन में घूमकर ;
निज माता की गोद स्वच्छ भरता रहा,
जो पति से भी बिछुड़ रही दुर्दैव-वश ॥

(११)

जङ्गल के शिशु-सिंह सभी सहचर रहे ।
रहा घूमता हों निर्भीक प्रवीर यह ॥
जिसने अपने बलशाली भुजदण्ड से,
‘भारत का साम्राज्य’ प्रथम स्थापित किया

(२९९)

(१२)

यवन, अनाय्य और शक, हूण, किरात का—

जिसने करके विजय, राज्य-श्री को लिया ॥

वही वीर, यह है आत्मज दुष्यन्त का ।

भारत का शिर-रत्न, 'भरत' शुभ नाम है ॥

—जयशङ्करप्रसाद ।

फूल की चाह

चाह नहीं मैं सुरबाला के गहने से गूथा जाऊँ ।

चाह नहीं प्रेमी-माला में बिँध प्यारी को ललचाऊँ ॥

चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ ।

चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ ॥

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक ।

मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावैं वीर अनेक ॥

—माखनलाल चतुर्वेदी ।

दलित कुसुम*

(१)

अहह ! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?

प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?

* 'इन्दु' से ।

(३००)

पर-दुख-सुख तूने, हा ! न देखा न भाला ।
कुसुम अधखिला ही, हाय ! यों तोड़ डाला ॥

(२)

तड़प तड़प माली अश्रुधारा बहाता ।
मलिन मलिनिया का दुःख देखा न जाता ॥
निठुर ! फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से ?
इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ॥

(३)

यह कुसुम अभी तो डालियों में धरा था ।
अगणित अभिलाषा और आशा-भरा था ॥
दलित कर इसे तू काल, क्या पा गया रे ।
कण भर तुझमें क्या है नहीं हा ! दया रे ॥

(४)

सहृदय जन के जो कण्ठ का हार होता ।
मृदित मधुकरी का जीवनाधार होता ॥
वह कुसुम रँगीला धूल में जा पड़ा है ।
नियति ! नियम तेरा भी बड़ा ही कड़ा है ॥

—रूपनारायण पाण्डेय ।

जीवन-सङ्गीत*

क्या कहूँ क्या हूँ मैं, भ्रम-पुञ्ज
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग
शून्यता का उजड़ा सा राज ।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब
और जड़ता की जीवन-राशि
सफलता का संकलित विलम्ब ।
नील नभ औ धरणी के बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय
एक उल्का-सा जलता भ्रान्त
शून्य में फिरता हूँ असहाय ।
शैल-निर्भर न बना हतभाग्य
जल नहीं सका जो कि हिमखण्ड
दौड़कर मिला न जलनिधि-अङ्क
आह वैसा ही हूँ पाखण्ड ।
भूलता ही जाता दिन-रात
सजा अभिलाषा कलित अतीत

(३०२)

बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य

दीन जीवन का यह संगीत ।

—जयशङ्कर “प्रसाद” ।

शोकाञ्जलि*

(१)

बालकाल ! तू मुझसे ऐसी , आज बिदा क्यों लेता है ?
मेरे इस सुख-मय जीवन को , दुख-भय से भर देता है ।
भूल कभी तेरे वियोग का, स्मरण हाय ! जो करता हूँ ;
सच कहता दोनों आँखों में, तप्त अश्रु-जल भरता हूँ ॥

(२)

अन्धकार छा गया, कहीं भी, दृष्टि न कोई आता है ।
नेत्र-पटल में विभीषिका-मय, चित्र एक खिँच जाता है ॥
काम, क्रोध, मद, लोभ शत्रु षट्, साथ दिखाई देते हैं ।
कलह, कपट, छल-छिद्र एक से, एक उठाये लेते हैं ॥

(३)

कहाँ हृदय की शान्ति कहाँ सुख, कहाँ आज वह हर्ष अपार ?
कहाँ परस्पर प्रेम, एकता, कहाँ निष्कपट सद् व्यवहार ?
क्या न कभी अब इस जीवन में, पुण्य-दिवस वे मिलने के ?
क्या मेरे मुरभे सुरभे मन, प्राण न ये अब खिलने के ?

* “इन्दु” से ।

(३०३)

(४)

बालकाल ! तू चला एक मुख, लौट क्यों नहीं आता है ?
तेरे बिना सखा यह तेरा, तड़प तड़प रह जाता है ॥
जो रहना ही नहीं भला, कुछ शिक्ताएँ दे जा अनमोल ।
लौट एक भी बार प्रेम से, आलिङ्गन कर ले जी खोल ॥

(५)

सखे ! सखे !! फिर कभी और क्या, बता तुझे मैं पाऊँगा ?
विरह-वह्नि-तापित यह अपनी, छाती और जुड़ाऊँगा ?
“नहीं नहीं” उत्तर कानों में, कहता है क्यों यह तू मित्र !
बची एक, बस, स्मृति अब तेरी, इस दुखिया के पास पवित्र !

(६)

जा, जा, सखे ! गलै मिल जा जा, जा जा सुख से अपने धाम !
कुटिल-काल के कृत्य कठिन हैं, हाय विधाता की गति वाम !!
कर सकता कुछ नहीं विवश हूँ, अतः अश्रु-जल-राशि समेट ।
देता हूँ चरणों में सादर, “शोकाञ्जलि” यह तेरी भेंट ॥

—पाण्डेय मुकुटधर ।

आँसू

यहीं है वह विस्मृत संगीत खो गई है जिसकी भंकार
यहीं सोते हैं वे उच्छ्वास, जहाँ रोता बीता संसार ॥

यहीं है प्राणों का इतिहास, यहीं बिखरे वसन्त का शेष
नहीं जो अब आयेगा लौट, यहीं उसका अक्षय संदेश
समाहित है अनन्त आह्वान यहीं मेरे जीवन का सार
अतिथि ! क्या ले जाओगे साथ, मुग्ध मेरे आँसू दो चार ?

—महादेवी वर्मा ।

साधारण मनुष्य की दश अवस्थाएँ*

(१)

जन्म लिया जिस समय, बजी घर हर्ष बधाई ।
जैसे बीते मास, देह-बल-छवि अधिकाई ॥
क्षण रोवै, क्षण हँसै, करै क्रीड़ा सुखदाई ।
दिन दिन निज शिशु देख बढ़त, हुलसै अति माई ॥

(२)

बीते जब दस वर्ष हर्ष का नहीं ठिकाना ।
लकुट हाथ बिच थाम्ह, चले कूदे मनमाना ॥
अभय, सुशील, अमान, मातु-पितु-आज्ञाकारी ।
क्रीड़ा में अति चाव, बात बोलै अति प्यारी ॥

(३)

बीस वर्ष का युवा सुन्दरी गृह में आई ।
सदा प्रेम-रस-मग्न उपासक तन-रुचिराई ॥

* “हितकारिणी” से ।

(३०५)

करै जीविका-हेतु परिश्रम, गृह जब आवै ;
देख मोहिनी-रूप, कष्ट सब तुरत भुलावै ॥

(४)

हुई आयु जब तोस, नहीं दिन जैसे आगे ।
वही प्रिया की गोद, देख प्रिय-सुत अनुरागे ;
पड़ चिन्ता के जाल, रातदिन कठिन बितावै ।
बन्दन-अर्चन-हेतु समय कैसे फिर आवै ?

(५)

बीती वय चालीस, लोभ-स्वारथ-रिपु जागे ।
दम्भ-कपट-पाखण्ड सङ्ग, नहीं क्षण भर त्यागे ॥
सत्य, दया, उपकार, धर्म, शुभ कर्म सुहाये ।
इनपर दे व्याख्यान, अन्य जन खूब भुलाये ॥

(६)

बीते वर्ष पचास, ज्ञान का वेश बनाया ।
ऊपर से वैराग्य, हृदय में लपटी माया ॥
कहैं उठा निज हाथ, जगत् में है क्या भाई !
भज लो अब तक श्वास, जानकीपति रघुराई ॥

(७)

साठ वर्ष का हुआ, कूबड़ी टेकन लागा ।
कटि में पीड़ा जगी, मृत्यु-भय उर में जागा ॥
पत्नी का भी प्रेम नहीं जैसा था आगे ।
शारीरिक सुख सभी, मार्ग निज ले ले भागे ॥

(३०६)

(८)

सत्तर पर जब गया, दाँत बत्तीसों टूटे ।
बन्दर का सा बदन, वाक भी स्पष्ट न फूटे ॥
कँपते हैं सब अङ्ग, चले तिसपर फिर खाँसी ।
वात वात में करें, ठिठोले बालक हाँसी ॥

(९)

अब अस्सी की आयु, जगत् से मुख नहिं मोड़ा ।
मरे कई आत्मीय, दुःख दिल में नहिं थोड़ा ॥
डोल रहा है शीश, तदपि हा ! लोभ गया ना ।
जीवन का है अन्त, तदपि मन शुद्ध भया ना ॥

(१०)

घाते नव्वे वर्ष, इन्द्रियाँ शिथिल भई हैं ।
नेत्र-ज्योति अति मन्द, श्रवण की शक्ति गई है ॥
रहता रुग्ण शरीर, काल-ज्वर जोर जनाया ।
सन्निपात हो गया, समय अन्तिम है आया ॥

(११)

अग्नि-दाह दे, स्वजन लौट मरघट से आते ।
रहा न अब कुछ और, लखो, टूटे सब नाते ॥
रहै कीर्ति-अपकीर्ति, सबों की दशा यही है ।
अटल कीर्ति जो रहै, जन्म तो जान सही है ॥

—शुवरप्रसाद द्विवेदी और बिसाहू राम ।

मन

मन ही के हारे हारि जात सब ठौर नर

मन ही के जीते जीत नीति यों कहत है ।

मेदिनीप्रसाद मन ही के फेर फारन में

होत छिन दुःख छिन आनन्द मचत है ॥

सकल शरीर माँहि मन ही प्रबल एक

होत बस नहि अति कठिन जँचत है ।

मन के थिराये सब जगत थिरत अरु

मन के नचाये सब जगत नचत है ॥ १ ॥

काम क्रोध लोभ मद जाके हैं अधीन सब

ऐसे एक मन या सरीर में महत है ।

जाके बस करिबे को जोगी जोग साधत हैं

जप तप करि मरि मरि कै पचत है ॥

मेदिनीप्रसाद तउ करि न सकत बस

ईश की कृपा तेँ कोउ पार उतरत है ।

मन के थिराये सब जगत थिरत अरु

मन के नचाये सब जगत नचत है ॥ २ ॥

—मेदिनीप्रसाद पाण्डेय ।

प्रेम-परिचय*

हूँड़ा सब संसार प्रेम का पता न पाया ।
प्रेमी जन से पूछ पूछ दिन व्यर्थ गँवाया ॥
खोज थका कर यत्न हृदय-मंदिर के भीतर ।
किन्तु वहाँ भी पता मिला मुझको न अधिकतर ॥ १ ॥

वन में करके तप अभीष्ट पाते थे ऋषिगण ।
यह विचार कर मैं भी तब लिया मार्ग वन ॥
करता वहाँ निवास अनेकों दिवस बिताया ।
शिर अपना कंदरा गुहाओं से टकराया ॥ २ ॥

किन्तु न तब भी हुई पूर्ण प्रेमी अभिलाषा ।
बनो रही इतने पर भी हिय प्रेम-पिपासा ॥
तब होकर मैं विवश लगा अतिशय घबराने ।
थिरता मन की गई बुद्धि नहीं रही ठिकाने ॥ ३ ॥

उसी दशा में मिला एक मुझको संन्यासी ।
महा वृद्ध तेजस्वि उसी जंगल का वाली ॥
उसने मुझसे कहा 'अरे ! क्यों खोता दिन है ?
जा अपने घर चला प्रेम-पथ बड़ा कठिन है ॥ ४ ॥
औ, अवश्य ही प्रेम-हेतु जो हो उत्सुक मन ।
तो पुराण इतिहास आदि निज कर अवलोकन ॥

* "मयादा" से ।

उसमें कविजन कथित प्रेम का पढ़कर वर्णन ।
तू अवश्य ही हो जावेगा परम तुष्ट मन” ॥ ५ ॥

इस प्रकार मैं उसका कहना ठीक जानकर ।
छान-बीनकर लगा देखने ग्रन्थ आन कर ॥
पहले देखी प्रेम-पूर्ण श्रीकृष्ण-कहानी ।
जयदेवादिक भणिति प्रेम के रस से सानी ॥ ६ ॥

x x x x

फिर देशों के इतिहासों को देख थके हम ।
किन्तु व्यर्थ ही हुआ हमारा सकल परिश्रम ॥
वही दशा फिर हुई हमारे हृदय-देश की ।
अस्थिरता के संग अशान्ति ने फिर प्रवेश की ॥ ८ ॥

तज वन मैं इस बार देश की ओर सिधारा ।
पूरा करना रहा दैव को इष्ट हमारा ॥
इस अशान्ति में मुझे दिखाया सब शुभ लक्षण ।
वढ़ते ही एक देश हुआ धनहीन निरीक्षण ॥ ९ ॥

मैं टकराता हुआ गया उस दुखी देश में ।
देखा तहाँ एक पुत्रवती को मलिन वेष में ॥
पाँच पुत्र थे उसके छोटे बड़े मिलाकर ।
जिनमें प्रायः थे अबोध सब ही अतिशयतर ॥ १० ॥

देख देखकर तिन्हें मनहिं मन में मुसक्याती ।
चूम चूम हिय से लगाय फूले न समाती ॥
दृष्टि लगाये हुए उन्हीं पाँचों के ऊपर ।
करती सबको प्यार मधुर शब्दों को कहकर ॥ ११ ॥

थी जग की सम्पत्ति तुच्छ पाँचों के सन्मुख ।
वही प्राण वहि जीवन के थे दुःख और सुख ॥
वे बच्चे भी लिपट लिपटकर अंग अंग में ।
अनुपम सुख को लूट रहे थे मातु-संग में ॥ १२ ॥

जब तब उनमें कभी लड़ाई हो जाती थी ।
माता उनको गले लगाकर समझाती थी ॥
कहीं एक को ले लेती यदि अंक उठाकर ।
चारों जाते रूठ नाक औ भौंह चढ़ाकर ॥ १३ ॥

तब लेती सबको बिठाय वह बड़े प्यार से ।
जिससे वे विकसित हो जाते पुष्प-हार से ॥
होता था अनुमान देखकर तिन्हें गोद में ।
इन्द्रासन ये तुच्छ जानते इस प्रमोद में ॥ १४ ॥

था यद्यपि भरपेट अन्न का नहीं ठिकाना ।
माता को था महा कठिन संसार बिताना ॥
घर भी टूटा वस्त्र फटे आकृति भी चिन्तित ।
वस्त्र-हीन बालक रहते थे धूलि-धूसरित ॥ १५ ॥

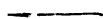
तो भी किसी प्रकार अन्न कुछ वह संचित कर ।
करती पुत्रन तुष्ट आप वरु तृप्त न होकर ॥
इस प्रकार माता का अनुपम प्रेम देखकर ।
मैं हो गया अवाक् अचल चित्रित-सा दर पर ॥ १६ ॥

प्रेम-अश्रु से पूर्ण नेत्र हो गये अचंचल ।
औ असीम आनन्द-पूर्ण गद्गद हृदयस्थल ॥
सत्य प्रेम जिसके हित भूले दुःख अनेकन ।
देखा तिसको वहाँ लोटते भूमि नग्न तन ॥ १७ ॥

हुआ मुझे आनन्द परम उस समय अलौकिक ।
जिसके सम्मुख तुच्छ सकल सुख हैं स्वर्गादिक ॥
निश्चय ही जग सत्य प्रेम है सुत-माता में ।
नर-नारी में गुरु न शिष्य में नहिं भ्राता में ॥ १८ ॥

अहह ! अलौकिक प्रेम एक माता में पाया ।
और मुझे संसार-प्रेम मिथ्या-सा भाया ॥
जैसा मुझको मिला “प्रेम-परिचय” अनुपम सुख ।
करता हूँ मैं उसी तरह पाठक-जन-सम्मुख ॥ १९ ॥

—माधवप्रसाद शुक्ल ।



वन्दना

१—जयति नादमय शब्द ब्रह्म अक्षर अविनाशी,
‘कविर्मनीषी,’ भव्य भारती-भाव-विलासी ।
रस रसरूप रसेश रसिक रस-मृष्टि-विधायक
त्रयति माधुरी-मूर्ति, मधुर वचनामृत-नायक ॥

२—जाको भृकुटि-विलास शब्द-मूरति उपजावै
वाणी वीणापानि कनित भनकार सुनावै ।
जाकी किरपा-कोर करुन-रस-सिन्धु हिलोरै
वन्दों ताको नामरूप बन्धन जो छोरै ॥

[‘कवि-कीर्त्तन’ से]

—वियोगी हरि ।

ग्राम-गुण-गान

आहा ! कैसा सुखद ग्राम है
मन सबका हरनेवाला ।
प्रकृति-वधू की बनी हुई है
मानो यह शोभा-शाला ॥
सुहृद नागरिक देख यहाँ का
दृश्य अधिक सुख पाते हैं ।

सुखद दृश्य अवलोकन के हित
कभी कभी वे आते हैं ॥

छोटे छोटे गेह बने हैं
शुभ्र मनोहर सुखदाई ।
कहीं न जानी मुझसे प्यारे !
उनकी उत्तम सुघराई ॥

तुरई, कुम्हड़े, ककड़ी इनकी
लता मनोहर भाती हैं ।
हरित दृश्य सुन्दर दिखलाकर
मन में सुख उपजाती हैं ॥

एक ओर बड़हल केले के
वृक्ष अपार लखाते हैं ।
जहाँ बैठ गोरैया मैना
पक्षी सुख से गाते हैं ॥

दौड़ दौड़कर खेल रहे हैं
कृपकों के बच्चे प्यारे ।
करती उनकी माता सुख से
घर के काम-काज सारे ॥

एक ओर निकटस्थ अधिक है
स्वच्छ नीर-युत सुन्दर ताल ।

जहाँ छाँह-हित सघन लगे हैं
पीपल, किंसुक और रसाल ॥

कमल तथा वर कुमुद जहाँ पर
विकसित रहते हैं दिनरात ।
भ्रमर-पुञ्ज मकरन्द पान कर
गुञ्जन करते हैं सह भ्रात ॥

पनिहारिन पानी लेने को
पंक्ति बाँधकर जाती हैं ।
सिर पर नीर-पूर्ण मिट्टी के
कलसे लं ले आती हैं ॥

गाय-बैल ले ग्राम्य वनों में
वंशी ग्वाल बजाता है ।
आहा ! कैसा कर्ण-प्रिय है
सुनकर मन हुलसाता है ॥

एक ओर पल्लवित वृक्ष से
सज्जित पर्वत है भारी ।
एक ओर भरना भरता है
“भर भर” शब्द मनोहारी ॥

एक ओर निज खेत जोतता
बड़े प्रेम से बोता धान ।

एक ओर गन्ने में पानी
देता कोई श्रमी किसान ॥

ग्रामाधिप का भवन बना है
सुन्दर सुथरा और पवित्र ।
बैठ जहाँ नित ग्राम्य पंचगण
करते हैं नव न्याय विचित्र ॥

यहाँ घूस का काम नहीं है
नहीं कपट-पूरित व्यवहार ।
ईश्वर की साक्षी दे करते
जीत-हार सब विधि अनुसार ॥

बना हुआ है सात्विक छोटा
जगन्नाथ का मन्दिर एक ।
पाते हैं विश्राम जहाँ पर
आकर साधू नित्य अनेक ॥

यहाँ न उड़ती बुरी मोरियों
से दुर्गन्ध शहर की भाँति ।
और न पैदा होती प्यारे !
भाँति भाँति रोगों की जाति ॥

नगरों में रहता था मैं जब
मझको ग्राम न भाता था ।

ग्रामीणों को अपढ़ जानकर
पास नहीं मैं जाता था ॥

किन्तु यहाँ तो उत्तम कवि हैं,
शिक्षित जन भी हैं दो चार ।
बना हुआ है एक मदरसा
करने को शिक्षा-विस्तार ॥

इस प्रकार से सभी सुखों का
साज मुझे ललचाता है ।
छोड़ ग्राम नगरों में रहना
मुझे नहीं अब भाता है ॥

वर्णन करूँ कहाँ तक प्यारे !
ग्राम-दृश्य है अपरम्पार ।
उचित जान मैंने दर्शाये
यहाँ ग्राम-गुण हैं दो चार ॥

—पाण्डेय मुरलीधर

['स्वदेश-वान्धव से']

(३१७)

निद्रा*

(१)

यदपि दृगपरे तू सर्व के है सदा ही ,
पुनरपि न किसीसे स्वार्थ-सम्बन्ध तेरा ।
तदपि अहह ! निद्रे ! कौन सी प्रीति से री !
नित प्रति, प्रति-प्राणी-पास जा शान्ति देती ?

(२)

क्षण भर न जिन्हें है मोद नाना दुखों से ,
दुख-प्रद जग-जीना है निरा नित्य रीते ।
जननि-वत् उन्हें तू प्रेम से गोद में ले ,
दुख, भय, रुज, चिन्ता, ताप सारे मिटाती ॥

(३)

सबपर रखती है सर्वथा साम्यभाव ,
यह जन लघु औ हैं ये बड़े जानती न ।
निरत सतत तू है देवि ! अन्यापकार ,
अहह ! यह कहाँ से सीख ली रम्य रीति ?

(४)

बहु नगर वनों में—अन्य नाना स्थलों में—
परिभ्रमण कराती सौख्य स्वर्गीय देके ।

* “मनोरञ्जन” से ।

(३१८)

पुनरपि हृदयहारी लोचनानन्दकारी ,
अनुपम नव नाना दृश्य तू है दिखाती ॥

(५)

निपट अधन के भी फूस के झोपड़ों में ,
रजत-धवल-मुद्रा-राशि आहा ! सजाती ।
इक क्षण भर में ही तू उसे देवि निद्रे !
धन-मद-धनियों के चोचले है दिखाती ॥

(६)

निज अपकृतियों से जो बने हैं अभागे ,
बहु दुख नित भोगे पै न हा ! सौख्य कोई ।
सदय-हृदय होके स्वीय साम्राज्य में री !
सुख सकल उन्हें तू सृष्टि के सौंपती है ॥

—शुक्लालप्रसाद पाण्डेय ।

कोलाहल

कोलाहल कहाँ नहीं है ?

यह भव में नभ में बजता

यह सृष्टि-यंत्र का रव है

कोलाहल कहाँ नहीं है ?

(३१९)

इसमें तो जग के सौ सौ
सुखदुखमय गीत मिले हैं ।

कोलाहल कहाँ नहीं है—
यह मन का मादक लय है !

जिसमें क्षण प्रति क्षण मेरे
प्राणों के तार बजे हैं
कोलाहल कहाँ नहीं है
वह कवि का भाव निलय है ।

‘मनोरमा’ से ।

—शान्तिप्रिय द्विवेदी ।

सुख-मय जीवन*

(१)

है विद्या औ जन्म धन्य धरती पै तिनको ,
पराधीनता माहिं कटत नहिं जीवन जिनको ॥
कर्म पवित्र विचारन के जिनके अति सुन्दर ।
सरल सत्य सों मिली निपुनता के जो आकर ॥

(२)

बुरी वासना मन में जिनके कबहुँ न आवत ।
रूप भयङ्कर धारि मृत्यु नहिं जिनहि डरावत ॥

Sir Henry Walton कृत The Happy Life की
छाया पर ।

(३२०)

जगज्जाल में बँधे करत नहिं यन्न हजारन ,
गुप्त प्रकट निज नाम सदा विस्तारन कारन ॥

(३)

जिनहिं ईरपा होति नाहिं पर-उन्नति देखे ।
चाटुकारि अनजान वस्तु है जिनके लेखे ॥
राजनीति को तत्त्व करत नहिं चित आकरसन ।
धर्मनीति के ऊपर जो वारत तन-मन-धन ॥

(४)

भयो कलङ्कित नाहिं कबहुँ जिनको यह जीवन ।
विमल-विवेचन-बुद्धि विपत में विनति निकेतन ॥
गुशामदी नहिं खायँ उड़ावैं जिनकी सम्पति ।
औ शत्रुन कहँ प्रबल करत नहिं जिनकी अवनति ॥

(५)

परमेश्वर को भजन करत जो साँझ सबेरे ।
हरि-सेवा को छाँड़ि चहैं नहिं सुख बहुतेरे ॥
धर्मग्रन्थ-अवलोकन में ही समय बितावत ।
साधुन के सतसङ्ग बैठि हरि-कथा चलावत ॥

(६)

नहिं उन्नति की इच्छा औ नहिं अवनति को डर ।
आशा-बन्धन काटि भये निरद्वन्दी सो नर ॥

(३२१)

वसुधा-शासन भूलि करत निज मन को शासन ।
यद्यपि सो अति सुखी कहावत तऊ “अकिञ्चन” ॥

—जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ।

संसार

× × ×
अवसाद प्रसाद भरा प्रतिपल
हलचल बन जाता है अथाह;
नाचती निरंतर जहाँ क्रान्ति
है ‘और-और’ का ही प्रवाह ।
अनियंत्रित रव से युक्त नगर
भर रहे यहाँ विष-भरी आह ॥

नभ पर उठते हैं हँस हँसकर
प्रासाद, संपदा के प्रमाद;
झोपड़े धरातल चूम रहे
रोते निर्धनता के विषाद;
हैं यहाँ खेलते साथ-साथ
वैभव उत्पीड़न के प्रसाद !

आँसू बनता है कहीं रुधिर
है कहीं सिसकती दर्वा आह;

(३२२)

है कहीं तृप्ति, है कहीं प्यास
है यहाँ आदि से अन्त चाह !!

[“सुधा” से]

—भगवतीचरण वर्मा ।

अन्योक्तियाँ

[मेघ के प्रति कृपक की उक्ति]

(१)

हे हो मेघरैया, व्योम-वृज के कन्हैया ,
सदा रस-बरसैया, कबों नेकु ना जँचैया हौ ।
ताल औ तलैया नदी-नद के भरैया ,
निज देह के गलैया, पर-प्राण के बचैया हौ ॥
तृन उपजैया, सस्थ-सुखद-सजैया ,
कीट-कोटि-सिरजैया, नई सृष्टि के रचैया हौ ।
जरनि मिटैया, मेघराज के गवैया ,
वन मोरन-नचैया, घर आनँद मचैया हौ ॥

(२)

धनी रतनाकर से धनी मेघमाला लाई ,
मुकता-मनी से वारि-बुन्द बरसायो है ।
कनक-छरी सी खरी दामिनी धरी है हाथ ,
रजत-पहार सो धवल घन लायो है ॥

(३२३)

हीरक से स्वेत लालमनि से सुमन लाल ,
हरित मनी से हरे तृन पै सजायो है ।
दारिद-नसावन औ सुख-सरसावन ,
या सावन-सुहावन कुबेर बनि आयो है ॥

(३)

मारतण्ड-वानन से बेधित हैं वारिधि ने ,
कोप कै प्रचण्ड पौन बाहन बनायो है ।
तरल तरङ्गन को मेघ में बदल दल,
बादल को सूर सौंह लड़न पठायो है ॥
स्वर्ग के प्रभाव से सो शीतल-स्वभाव है कै ,
बसुधा के बीच सुधा-वारि बरसायो है ।
विग्रह न कीने ते कुबेर॥ यश फैलो तैसे ,
मेघ हू को सुयश चहुँधा छिति छायो है ॥

(४)

रुइ के ढेर सों ढेर के ढेर ,
अकाश में आइगे ऊजरे बादर ।
होइ घने बने कारे कते पुनि ,
बूँदनधार में सूत से नादर ॥
पीअरी भूमि पै आइ परे तृन—
रूप धरे हरे लै तिन्हें सादर ।
॥ महाराज दिलीप और कुबेर की कथा ।

पावस ने जनु बीनि बनाई ,

प्रिया पृथिवी के लिए हरी चादर ॥

—भगवानदास जायसवाल ।

(५)

नित भोरहि तें घिर आवैं घने,

रहैं साँझ लों ऐसहि व्योम छये ।

बरसैं न प्रकाशन भानुहिं देहिँ ,

अरे रहैं ऐसे अठान ठये ॥

कवि मीर रहो चुप देख इन्हें ,

नहिँ जानिए धौं यह कौन जये ।

मुख स्याही सी लाये फिरैं ,

इतते उत, ये बदरा बदराही भये ॥

(६)

सहते नहिँ भार पहारन तो ,

तुम लाखन को कहु को धरतो ।

रवि चन्द जु पै नभ होते नहीं ,

तो अमन्द प्रभा जग को करतो ॥

कवि मीर कहाँ लों बुझाय कहैं ,

कभु काज न एकौ कहूँ सरतो ।

यदि होते कहूँ बदरा अनुदार ,

तो सिन्धु सरोवर को भरतो ?

—सैयद अमीर अली (मीर)

(३२५)

काल की कुटिलता

(१)

थे कल मुदित हम, आज हमको मोद पाना है नहीं ;
इस ज़िन्दगी का भाइयो ! कुछ भी ठिकाना है नहीं ।
पाकर क्षणिक सुख-भोग हैं हा ! हम अभी फूले हुए ;
घट जाय कैसे कौन सी घटना, इसे भूले हुए ॥

(२)

है उदय से ही अस्त; जीवन से मरण प्रत्यक्ष है ;
संयोग से समझो सदा दुस्सह वियोग समक्ष है ।
सुख-कौमुदी छिटकी अभी; दुख-मेघ देखो घिर रहा—
यों नित्य सुख के सङ्ग ही दुख भी सदा ही फिर रहा ॥

(३)

दिन बीतते थे सर्वदा आमोद से जिनके बड़े ,
हैं आज एकाएक वे ही दुःख-सागर में पड़े ।
हत-प्राण, नत-मस्तक किये, गत-सत्व साँसें ले रहे ;
हा ! किन्तु हम इसपर कभी क्या ध्यान भी हैं दे रहे ?

(४)

सुख-सिन्धु में था खेलता, दुख-गर्त में क्यों कर गड़ा ;
था हँस रहा, क्या हो गया जो वह बिलखता अब पड़ा ।
इस तरह भङ्गुरता-विषम एकान्त आती दृष्टि है ;
सुख नाम को ही; सर्वथा दुख-पूर्ण सारी सृष्टि है ॥

(३२६)

(५)

उत्साह से था हो रहा सुख-साज अति सुन्दर जहाँ ,
देखो, अभी ही मच गया है दुःख का क्रन्दन वहाँ ।
रहते किसीको ज्ञात परिवर्तन भला ये क्या कहीं ?
है काल की यह कुटिलता, जानी कभी जाती नहीं ॥

—पाण्डेय मुकुटधर ।

शिशिर-निशा

(१)

दुःशासन के लिए हुआ था, ज्यों कृष्णा का चीर अपार,
होता ज्यों नौका-विहीन को, नदी-नीर का बहु विस्तार ।
अथवा पङ्क्तु-जनों को गगनस्पर्शी गिरि-शिखरों का जाल ,
दुखियों को भी उसी भाँति यह, शिशिर-निशा है बड़ी विशाल

(२)

शब्दोदधि-तट पा न सके ज्यों, इन्द्र रहे उसमें ही लीन ,
त्यो ही तमसाच्छन्न निशा यह, मुझे दीखती अन्त-विहीन ।
अकुलाकर हैं चन्द्रदेव अब, गये यहाँ से लाखों कोस ;
जाड़े से दुःखित तारों के, नयनों से गिरती है ओस ॥

(३)

कावू में है नहीं लेखनी, कुछ का कुछ लिख जाती है ;
दीप-शिखा से ज़रा हटाते, ही स्याही जम जाती है ।

(३२७)

केवल कर ही नहीं किन्तु सब, अङ्ग काँपता जाता है ;
रजनी की भीषणता का तुल्यत्व न कोई पाता है ॥

(४)

पहरे पर रख अन्धकार को—‘शोर न हो’ यह कर आदेश ,
प्रकृति सो गई सी है रजनी, का धरकर अति अद्भुत वेश ।
मानव तो मानव पशुओं के, भी रव का है पता नहीं ;
भिल्ली की झङ्कार-ध्वनि तक, सुनी न जाती आज कहीं ॥

(५)

दिन भर चक्कर देनेवाले पक्षी तो चुप हैं सो ठीक ;
रजनीचर भी—उलूकादि सब—नहीं घूमते हैं निर्भीक ।
अजी ! घूमना दूर रहा वे, निज खोतों में बैठे दीन ,
पर तक नहीं हिलाते मानों, हुए सभी हैं जीव-विहीन ॥

(६)

पर न सभी दुःखित होंगे इस, महा-निशा के आगम से ,
प्रत्युत होंगे मुदित बहुत जन, इसके आज समागम से ।
शव की शिविका तथा देखकर, उसी समय में सजी बरात—
सब लोगों की रुचि न एकसी, होती है यह निश्चित बात ॥

(७)

हाय ! न जानें कितने भिक्षुक, वस्त्रहीन धरनी पर आज—
नभोरूप छत के नीचे ही. अपने कर का तकिया साज—

(३२८)

लैम्प-तुल्य तारों की धुँधली, आभा में निज आँखें खोल ,
भाग्य-लेख पढ़ पढ़ दाँतों का, विकट सुनाते होंगे बोल ॥

(८)

दिन भर भीख माँगकर पाई, घुने चने की दालों को
रोते हुए भूख से अपने, प्राणोपम उन बालों को
यों ही कच्चा खिला-पिलाकर निराहार वे महिलाएँ
क्या सुख से सोती होंगी हा ! महा दुःखिनी अबलाएँ ?

(९)

नहीं, किन्तु अपने बच्चों को, लगा कलेजे से भर ज़ोर
अगणित टुकड़ों से निमित्त निज, मैल भरी साड़ी का छोर ।
खींच, उड़ाकर कहती होंगी हा ! हा !! महाशोक के साथ—
हरे ! द्रौपदी-वस्त्र नहीं—तो रत्नर-तुल्य ही करते नाथ !

(१०)

इन दीनों का ध्यान, बताओ, करनेवाले कितने लोग—
होंगे इस भीमा-रजनी में प्रासादों में सब सुख-भोग ।
सच है, निज शरीर में जब तक गड़ती है न सुई की नोक ।
तब तक पर-दुख का अनुभव है कभी नहीं होता, हा शोक !
—कृष्णचैतन्य गोस्वामी ।

(३२९)

मूढ़ मानव

(१)

निस्सार जो विभव-भोग, वृथा अलीक ;
सो मूढ़-मानव ! तुझे इस भाँति नीक !!
एकान्त तू कर कभी इसका विचार ।
है भेद सत्य-सुख में, इसमें अपार ॥

(२)

हा ! वर्त्तमान सुख-भोग-दशा विलोक ;
तू मूढ़-मानव ! विमोहित, हन्त शोक !!
है जानता पट-भविष्यत् में लिखा क्या ?
संसार की यवनिका कब दे दिखा क्या ?

(३)

प्राणी जो कल था प्रसन्न-मुख से, आमोद में लीन हो ;
देखो तो किस भाँति आज फिरता, रोता वही दीन हो !!
देता जो सुख है अभी, कल हमें, होती उसीसे व्यथा !
रे रे मानव मूढ़ ! काल-महिमा, अज्ञेय है सर्वथा ॥

—पाण्डेय मुकुटधर ।

संसार-पट पर नाम अपना वे अमर कर जायेंगे ।
जो जन अनाथों के लिए श्रम-बिन्दु निज टपकायेंगे ॥

—केशवानन्द चौबे ।

पाटलिपुत्र की ओर से

सुरसरि की लहरों में मेरे आँगन के उन वीरों की—
 अङ्कित-सी है कीर्ति-कथा; जिनके दिग्विजयी तीरों की ।
 काँप उठा था विश्व याद कर वैभव के जल से सींचे,
 कितने राजमुकुट लोटे थे मेरे चरणों के नीचे ।
 किन्तु आज वे सब सपना; वे बीत गईं सुन्दर घड़ियाँ;
 तुम सोते ही रहे, लुट गईं मेरी मणियों की लड़ियाँ ।

× × × × ×

पर अब भी हैं शेष चिन्ह उस बीते गौरव के दिन के;
 जाग पड़ो, ताड़ो ये कड़ियाँ जैसे हों सूखे तिनके ।
 देखो, कितने हाथ बढ़ाता दिनमणि तुम्हें जगाने को;
 फूँ को शंख, विश्व डगमग हो, मैं चल पड़ूँ सजाने को ।
 कब तक अलख जगाऊँ मैं बैठे बैठे यों मन मारे ?
 मेरे चन्द्रगुप्त अब जागो, देखो यह बैरी द्वारे !

—लक्ष्मीनारायण मिश्र ।

बाल-काल

(१)

बाल-काल क्या ही मधु-मय है ;

जीवन का उत्कृष्ट समय है ।

(३३१)

शान्ति-सुधा का वह आंकर है ;
शुचि स्वर्गीय सौख्य का घर है ॥

(२)

चिन्ता, शोक, वियोग नहीं है ;
भय, अशान्ति, दुख, रोग नहीं है ।
वाद-विवाद, न भ्रम-संशय है ;
क्या ही अच्छा सुखद समय है ॥

(३)

तेजस्वी जिनके आनन हैं ;
पवित्रता-मय जिनके मन हैं ;
कुछ ऐसे शिशु आन मिले हैं ;
मानों पद्म-प्रसून खिले हैं ॥

(४)

कौतुक-मय क्रीड़ाएँ करना ;
यहाँ-वहाँ स्वच्छन्द विचरना ;
कभी साथियों से लड़ जाना ;
उन्हें मना फिर हृदय लगाना ॥

(५)

इस प्रकार से अभिनय नाना
करते सुख से दिवस बिताना

(३३२)

लभ्य न क्या हमको अब होगा ?

नव जीवन आगम कब होगा ?

(६)

वह पवित्र संसार कहाँ है ?

बाल-सखा-परिवार कहाँ है ?

वह नाटक वे पात्र कहाँ हैं ?

शेष एक स्मृति-मात्र यहाँ है ॥

(७)

पवित्रता थी भरी नयन में ;

था माधुर्य-निवास श्रवण में ;

हृदय भक्ति से भरा हुआ था ;

हास्य बदन पर धरा हुआ था ॥

(८)

वही नयन, मन, वही श्रवण है ;

वही हृदय है, वही बदन है ;

पर न रहीं अब वे सब बातें ;

दिन पलटे; पलटी वे रातें ॥

(९)

बाल्य-खेल सुख-सदन कहाँ हैं ?

मृदुल धूल के भवन कहाँ हैं ?

(३३३)

आँखमिचौनी, गिल्ली-डण्डा ;
थे बचपन में सुख का भण्डा ॥

(१०)

मात-पिता की सुखद गोद में—
साथ सखाओं के विनोद में ।
खेल बिताना नित दिन सारा—
था शैशव-सुषमा का द्वारा ॥

(११)

जाति-भेद मत-भेद विचारे ;
प्रकृत सरलता उर में धारे ।
हिल-मिल क्रीड़ा-कौतुक करते—
थे हम अपने सब दुख हरते ॥

(१२)

भाई भाई लड़ जाते थे ;
सौह न मिलने की खाते थे ।
पल में पर सबको विसराकर ;
एक साथ खाते घर जाकर ॥

(१३)

ईर्ष्या, द्वेष, विरोध नहीं था ;
लोभ, मोह, मद, क्रोध नहीं था ;

(३३४)

शत्रु-मित्र सबमें समता थी ;
प्रतिपक्षी से भी ममता थी ॥

(१४)

पर का उदय देखकर जलना ;
प्रतिहिंसा के पथ पर चलना ।
भाई पर भी खङ्ग चलाना ;
शैशव में था किसने जाना ?

(१५)

सरल न तब किसका स्वभाव था ?
लगा स्वार्थ का किसे घाव था ?
कहाँ एकता का अभाव था ?
पूर्ण प्रीति-मय भ्रातृ-भाव था ॥

(१६)

निरुत्साह का नाम नहीं था ;
अविश्वास मन में न कहीं था ।
थो न घटा चिन्ता की छाई ;
दुख था तब न रोग था भाई !

(१७)

तब क्या जीवन-भार हुआ था ?
विषमय क्या संसार हुआ था ?

(३३५)

प्राणों में थी भरी सरसता ;
सुख था आठों याम बरसता ;

(१८)

विद्या से यदि हम वञ्चित थे ।
गुण तो भी हममें सञ्चित थे ।
अब सब विद्या से मण्डित हैं ;
पाखंडों के हम पंडित हैं ॥

(१९)

ईश्वर में अनुरक्ति अचल थी ;
मात-पिता में भक्ति अटल थी ।
श्रद्धा-संयुत थी आस्तिकता ;
ज्ञात न थी हमको नास्तिकता ॥

(२०)

बाल-काल ! आते सुधि तेरी ;
आँखें भर आती हैं मेरी ।
साथ न अब तेरा होना है ;
इसीलिए तो यह रोना है ॥

—लोचनप्रसाद ।

वृन्दावन-वर्णन

१—देखी, हौं वृन्दावन ! तूने,
माधव की वह लीला ।
मदमाती काली कालिन्दी,
मुरली गायन-शीला ॥
मलयज मारुत का इठलाना,
इतराना कलियों का ।
गाना सुध-बुध-हीनों का,
गो-रस उलझी गलियों का ॥

२—मधुर-माधवी के मंडप में,
भव्य भावना-क्रीड़ा ।
अतुल कुशल कवि का चित्रण वह,
प्रकृति-माधुरी ब्रीड़ा ॥
प्रेम-पूर्णिमा के प्रकाश का,
हृदय-पटल पर नर्तन ।
भूतल के वर स्वर्ग-रूप का,
हा ! सहसा परिवर्तन ॥

३—देखा फिर, तूने वृन्दावन,
जगी ज्योति को जाते ।
फुल्लित सुषमा-लता-कुंज को,
सहसा हा ! कुम्हलाते !

स्वर बदला यमुना ने अपना,
छवि वह बदली काली ।
कुचल काल को, पर, अन्तर ने
छेड़ी ध्वनि मतवाली—

४—मुरझानी ये पुष्पावलियाँ
सूखे चन्दन-रोली,
शिथिल तार मेरी तन्त्री के,
थकी प्रतीक्षा भोली,
वीती निशा, कूँजते खग-कुल
अरुणोदय की लाली,
वीणा की मदमाती ध्वनि यह
आता क्या वनमाली ?

५—स्वागत-हित अब रखा पास क्या,
क्या मैं साज सजाऊँ ?
केवल एक यही वीणा है,
स्वर के स्वर में गाऊँ ॥
हुआ लीन स्वर-लहरी में यह
मेरा जग मतवाला ।
कल-कल राग छेड़ते पाया
आया वंशीवाला ॥

—श्यामाकान्त पाठक ।

सौन्दर्य

- १—कला के हे अनुपम आदश,
पुष्प के नैसर्गिक शृङ्गार;
मधुप-मानस के मोहक मन्त्र,
विश्व-कवि की कविता साकार ॥
- २—हमारे हृदय-सिन्धु के हेतु
तुम्हीं हों मंजु, मनोज्ञ मयंक;
भावना-लहरें तुमको देख,
वहा करती हैं सदा अशंक ।
- ३—नेत्र चातक के मंजुल मेघ,
स्नेह सरसिज के रवि स्वर्गीय;
कामना-तरुवर-मूल अमूल्य,
कल्पना मूर्तमती कमनीय ॥
- ४—चन्द्र में तुमको देख चकोर
नित्य जाता अपने को भूल;
देख दीपक में तुम्हें पतङ्ग,
कार्य करता अपने प्रतिकूल ॥
- ५—सुधा वसुधा की जग की ज्योति,
विधाता के अनुपम साफल्य;
प्रकृति देवी के पावन पुत्र,
हृदयवेधी सुखदायक शल्य ॥
—श्रीबालकृष्ण राव ।

(३३९)

जुलाहे से

(१)

‘बन्धु जुलाहे ! उषाकाल से यह पावन परिधान नया,
क्यों बुनते हो, मुझे बता दो, सूत्रधार ! तुम करो दया ।
नीलकंठ के नीले पर-सा यह सुन्दर सुवस्त्र कोमल ?’
“बुनते हम नवजात बाल-हित शुभ पाटाम्बर नया नया ॥”

(२)

‘मोर-पंख से रुचिर’ सुनहले हरे-हरे कपड़े सुन्दर,
क्यों बुनते हो संध्या के धुँधले प्रकाश में तुम प्रियवर !
यह चमकीला वसन निराला, किसके लिये बनाते हो ?’
“हम बुनते हैं एक बालिका की सुहाग-साड़ी सुन्दर ॥”

(३)

‘बैठ चन्द्र-ज्योत्स्ना के नीचे मुखमंडल गंभीर विमन,
हंस-पंख-सा औ’ बादल के टुकड़े-सा यह विमल वसन,
क्यों बुनते हो कहो जुलाहे ! शांतिमूर्ति गम्भीर बने ?’
“हम बुनते हैं एक मृतक के लपेटने का हाथ कफन !”

—सूर्यनाथ तकरू ।

* भारत-कोकिल विश्व-विख्यात श्रीमती सरोजिनी नायडू की एक
कविता का भावानुवाद ।

सती

आह मेरे जीवन के दीप,

मृत्यु के अधर-पुटों ने फूँक अचानक तुम्हें बुझाया हाय,

जगे फिर से वह जीवन-व्योति नहीं ऐसा कोई सदुपाय ।

प्रेम, क्या इकली मैं सुनसान बसाऊँगी यह तम का द्वीप ?

आह ! मेरे जीवन के दीप !

आह मेरे जीवन के शाल,

मृत्यु के निठुर पगों ने कुचल तुम्हें हा ! कर डाला निर्मूल,

नहीं कोई सकता फिर खिला तुम्हारे गत-वैभव के फूल ।

हाय, जब द्रुम ही है निर्जीव, कली का फिर होगा क्या हाल ?

आह ! मेरे जीवन के शाल !

आह मेरे जीवन के प्राण,

मृत्यु की कटु कठोर करवाल कर गई छिन्न-शब्द-सा भिन्न,

हृदय को दो खंडों में तोड़ कि है जो संतत एक अभिन्न ।

जियेगी क्या भिट्टी की देह आह ! जब निकल चुकी है जान ?

आह ! मेरे प्राणों के प्राण !

—रामनारायण मिश्र ।

[भारत-कौकिल श्रीमती सगेजिनी नायडू की अंग्रेजी कविता
Suttee का भावानुवाद]

(३४१)

तुम

(१)

प्रेम-जलधि के सुन्दर मोती,
काव्य-कुञ्ज के मालाकार ।
नयन-कुण्ड के कमल मनोहर,
करुणा-रस के तुम अवतार ।

(२)

गरल और पीयूष तुम्हीं हो,
तुम ही दूटे प्याले हो ।
तुम ही हो मादकता अपनी,
तुम ही पीनेवाले हो ।

(३)

निर्जन के भरभर भरने तुम,
मानस-सर के तुम्हीं मराल ।
हृदयासन्न देवता के भी,
अश्रु ! तुम्हीं हो सुन्दर माल ।

(४)

उपाकाल की अरुणाई तुम,
शिशु-अधरों की तुम मुसकान ।

(३४२)

सुजला-सुफला-शस्य-श्यामला-

हित तज देते हो निज प्रान ।

(५)

विधवा के तुम भावुक आँसू,

विरह-व्यथित की विषम व्यथा ।

दुखिया के तुम दारुण दुख हो,

दीन हृदय की करुण-कथा ।

(६)

सान्ध्य-काल की श्रेष्ठ छटा हो,

शरद-काल के सुन्दर चन्द्र ।

नील गगन में झिलमिल झिलमिल,

तुम्हीं चमकते हो स्वच्छन्द ।

(७)

वीणा के तुम मधुर राग हो,

करुण-तान की हो झंकार ।

प्राण दिये बलिवेदी पर, उन

वीरों के तुम हो उपहार ।

(८)

उस अतीत की सुस्मृति तुम हो,

जिसका प्रेमी को अनुराग ।

(३४३)

पुष्प-पुष्प में जिसे ढूँढ़ता
भ्रमर, वही हो पीत-पराग ।

(९)

कल कल करती तीव्र-गामिनी,
सरिता की तुम हो कल्लोल ।
नव-वसन्त की कोकिल के हो,
मादकता-मय मीठे बोल ।

(१०)

विरह-पीड़िता के प्रियतम हो,
अनाथिनी के नाथ तुम्हीं ।
जीवन को रस-मय करते हो,
अन्त-समय दे साथ तुम्हीं ।

— नर्मदाप्रसाद खरे ।

[“सरस्वती” से]

कवि से

[१]

कौन सुनेगा कवि ! अब तेरी
हृत्तन्त्री का करुणा-राग ?
कौन करेगा कवि ! अब तेरी
सुखद कल्पना से अनुराग ?

(३४४)

[२]

भाव-उपा की गहन रक्तिमा,
कुराल तूलिका का नर्त्तन,
खटक रहा है विरह-व्यथा में,
कवि ! यह कैसा परिवर्त्तन ?

[३]

कवि ! अनन्त को हृदय-हारिणी
कविता का तुम राग-विराग
सुना-सुनाकर धो न सकोगे
दुर्बलता के काले दाग ।

[४]

शृंगारों से सजा लेखनी,
किया कभी क्या यह अनुमान !
मादकता की मधु-प्याली का
कौन करेगा आसव पान ?

[५]

तिमिर-पूर्ण जब जीवन-पथ का
दिखता कहीं न सीमित छोर ।
निश्चय है तब करुण रागिनी
कर न सकेगी आत्म-विभोर ॥

(३४५)

[६]

सुख-भविष्य के ओ निर्णायक !

छेड़ो मिलकर ऐसी तान,
वीर अमर की कृतियाँ जिससे
छन्दों में होवें छविमान ॥

[७]

शान्त प्रान्त में जहाँ विपिन के,
निशि-दिन होते हों युतिमान ।
विपिन विहंगम कलरव ध्वनि में,
वीर-चिता पर गाते गान--

[८]

हे कवि ! चलकर वहीं विपिन में
वर्त्तमान पर करें विचार,
कविता के भी शब्द-शब्द में
भर दें अपने हृदयोद्गार ।

—देवीदयाल चतुर्वेदी “मस्त”

[“प्रेमा” से]

✽ समाप्त ✽

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ ५४ पंक्ति २ श्रुति ...	श्रुति
” ६० पद्य १३ बजली ...	बिजली
” ८० ” ३ तरंग ...	तरंग
” ८२ पंक्ति ९ शिव सिरि ...	शिव सिर
” ८३ ” १ घहरत घंटा धुनि...	{ धवलधाम चहुँओर फरहरत धुजा पताका घहरत घंटा धुनि ...
” ८६ ” १३ खेत पाति ...	खेत पाँति
” ९५ ” ३ उग्रे ...	उग्र
” ९७ ” १७ भूधरा से ...	भूधरों से
” १०४ ” ४ उठाय ...	उठाइ
” १०८ पद्य १५ नक ...	नेक
” १०९ ” १७ उद्दयन के ध्यान के ...	उद्दयन की कथान के
” ११६ पंक्ति १७ युद्ध ...	शुद्ध
” ११९ ” १८ अद्भुत ...	अद्भुत
” १२७ ” १६ रम्य ...	रमि
” १२९ ” १७ संपत ...	संपति
” १३४ ” ६ इन्द्रबधन ...	इन्द्रबधून
” १४७ ” १६ विप्र सख से ...	विप्र सुख से
” १५५ ” १३ कल्पना सकुमार ...	सुकुमार
” १५६ ” ९ मात ...	मातः
” १५९ ” ७ उकलाते ...	उकताते

	अशुद्ध		शुद्ध
पृष्ठ	१७३पंक्ति १९	निरकुश	... निरंकुश
"	१७६ " १६	फिर फिर	... फिरि फेर
"	१८६ " ५	तान सनाओ	... तान सुनाओ
"	" " १०	ज्ञानी-दंड	... ज्ञान-दंड
"	१८७ " ९	मुख की बेला	... मुख की
"	१९१ " १६	मुख तेरा	... मुख मे
"	१९४ " ५	मिलती, हाय !	... मिलती
"	१९७ " २०	कढ़	... कढ़ै
"	१९८ " ४	त	... तें
"	१९९ " १८	सुहाइ	... सुहाय
"	" " २७	यह	... यहै
"	२०२ " १२	तग	... लग
"	२०३ " ३	अँगार	... अंगार
"	२५६ " १६	यारी छोड़ी	... प्यारी छोड़ी
"	२६७ " ५	मृत आता	... मृत आत्मा
"	२९४ " १	बलशाली	... धनशाली
"	३१८ " १	हृदयहारी	... हिय-हारी
"	३२० " २	वस्तारन	... विस्तारन
"	३२२ " ३	हे हो	... ऐ हो
"	३३३ " ७	विचारे	... विसारे

हमारे यहाँ की उपयोगी पुस्तकें

(१) सदाचार-दर्पण (पंचम संस्करण)	...	२॥१
(२) भारत-इतिहास (द्वितीय संस्करण)	...	३॥
(३) सूक्ति-सरोवर	...	२॥१
(४) वक्तृत्व-कला (तृतीय संस्करण)	...	१॥१
(५) नवीन-पत्र-प्रकाश (द्वितीय संस्करण)	...	१॥१
(६) कौतूहल-भाण्डार	...	१॥१
(७) सरल-नाटक-माला (द्वितीय संस्करण)	...	२॥१
(८) बाल-नाटक-माला " "	१॥२
(९) भिन्न भिन्न देशों के अनोखे रीति-रिवाज	...	१॥२
(१०) पद्य-पुष्पावली	...	१॥२
(११) अन्त्याक्षरी	...	१॥
(१२) शाहज्जादा और फ़कीर	...	१॥१
(१३) स्वदेश की बलि-वेदिका (ऐतिहासिक उपन्यास)	...	१॥२
(१४) विद्यार्थियों का स्वास्थ्य	...	१॥२
(१५) ५१ खेल (सचित्र)	...	१॥३
(१६) मज़ेदार कहानियाँ	...	१॥
(१७) पहेली-बुझावेल (द्वितीय संस्करण)	...	१॥
(१८) सचित्र सबी कहानियाँ	...	१॥
(१९) भारतवर्ष के इतिहास की सरल और सचित्र कहानियाँ (तृतीय संस्करण)	...	१॥
(२०) हीरे की अँगूठी (सुन्दर नाटक)	...	१॥१

मिलने का पता—

मिश्र-बन्धु-कार्यालय, जबलपुर ।

दूसरी बार छप गई !

पहिले से बहुत सुन्दर !!

सरल-नाटक-माला

अर्थात्

स्कूलों में खेले जाने-योग्य

५१ सम्वादों, प्रहसनों तथा एकांकी नाटकों
का अत्युत्तम संग्रह

किसी भी नाटक में—

(१) स्त्री-पात्रों का काम नहीं ।

(२) परदों का उलभाव नहीं ।

(३) कहीं कोई अश्लीलता नहीं ।

यह वही पुस्तक है जिसकी एक भी प्रति कई वर्षों से नहीं मिल रही थी, और गुणी ग्राहक जिसके लिए पचगुने दाम तक देने को तैयार थे ! सुख-संचारक-कम्पनी, मथुरा, के मालिक पं० क्षेत्रपाल शर्मा ने कानपुर के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक "प्रताप" में (ता: १३-१-१९२९ के अंक में) छपवाया था:—
"कुछ समय पूर्व 'सरल-नाटक-माला' नाम की पुस्तक जबलपुर से प्रकाशित हुई थी । क्या वह अब किसी सज्जन के पास है ? यदि हाँ, और वे यदि उसे बेचना चाहें, तो पाँच गुना तक मूल्य मिल सकेगा । न बेचना चाहें, तो १० दिन का पढ़ने को भेज दें । उचित दक्षिणा लिखें ।"

अब वही पुस्तक सैकड़ों ग्राहकों के अनुरोध से दूसरी बार, बहुत सज्जधज के साथ, छपकर तैयार है । लगभग ५०० पृष्ठों की सुन्दर जिल्द-बैधी पुस्तक का मूल्य केवल २॥)।

कुछ सम्मतियाँ—

(१) हिन्दी की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका “सरस्वती” ने सन् १९१७ ई० में लिखा था—

“X X नाटकों, प्रहसनों और सम्वादों का संग्रह है। ये प्रायः सबके सब आधुनिक समय के अनुकूल और शिक्षा-दायक हैं। कोई कोई प्रहसन हास्य-रस से साद्यन्त भरा हुआ है। ऐसी पुस्तक की बड़ी ज़रूरत थी। इसने नाटक-प्रेमियों के एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति कर दी। X X”

(2) “The Modern Review,” Calcutta—

“The book contains 44 very nice plays, which would be found very instructive indeed; and at the same time they afford much amusement. They are just suited for social gatherings in educational institutions. They are almost all in prose and there are no verses in them. However, this is not a drawback. Just a few of the dramas will not do for quite young students, but there is no objection to their being played by and before grown-up college-students. The language and style are quite satisfactory.”

(३) कानपुर के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र “प्रताप” ने लिखा था—

“X X हिन्दी में ऐसी एक पुस्तक की बड़ी ज़रूरत थी। उसकी पूर्ति इस पुस्तक ने भली भाँति कर दी है। पुस्तक की भाषा सरल और सुबोध है और उसमें भावुकता की भी कमी नहीं है। X X”

आरोग्य-ज्ञान-प्रदीपिका

अर्थान्

शरीर-रचना, प्राथमिक-सहायता, स्वच्छता और
स्वास्थ्य-रक्षा की एकमात्र

पाठ्य पुस्तक

यह पुस्तक एक अनुभवी शिक्षक द्वारा नार्मल स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए लिखी गई है। इस पुस्तक में शिक्षा-विभाग के शिक्षापत्र के प्रत्येक विषय-खण्ड पर विचार-पूर्वक विवेचन किया गया है और प्रत्येक विषय को समझाकर इतना स्पष्ट कर दिया गया है कि विद्यार्थी-गण स्वाध्याय के द्वारा भी विषय को भली भाँति समझ ले सकते हैं। चित्रों और आकृतियों की भी भरमार है, जिनकी सहायता से विषय बहुत ही रोचक और स्पष्ट हो जाता है।

प्रत्येक अध्याय के अन्त में एक प्रश्न-संग्रह जोड़ दिया गया है। इन प्रश्नों से विद्यार्थियों को अपने उपार्जित ज्ञान की जाँच करने में और विषय की पुनरावृत्ति करने में बहुत ही सुविधा होगी। पुस्तक में ऐसे प्रश्नों की संख्या लगभग ४०० है।

इस पुस्तक को पढ़कर नार्मल स्कूलों के विद्यार्थी-गण जो आगे चलकर प्राथमरी शालाओं के शिक्षक होंगे उन्हें इस विषय को अपनी शालाओं में पढ़ाने की पूर्ण योग्यता प्राप्त हो सके इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर इसमें सभी आवश्यक बातों का समावेश कर दिया गया है। मूल्य केवल १।)

पुस्तकें मँगाने का पता—

मिश्र-बन्धु-कार्यालय,

जबलपुर।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library

मुससूरी

MUSSOORIE

यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है ।

This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.



123555
LBSNAA

H

891.431
कविता

~~15404~~

~~15404~~

अवधि सं.

ACC No.....

वर्ग सं.

पुस्तक सं.

Class No..... Book No.....

लेखक

Author.....

891.431 LIBRARY 15404
कविता
LAL BHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 123555

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving